श्री शंकराचार्य

और

कुमारिलभट्ट

का जीवन चरित्र।

पं॰ राजाराम प्रोफ़ेसर डी. ए. वी. कालिज, लाहौर प्रणीत।

संवत् १९७१ विक्रमी।

बाम्बे मैशीन प्रेस लाहौर में मैनेजर शरत्चन्द्र लखनपाल के प्रबन्ध से छपा।

तीसरीवार १५००

[मूल्य ।॥)

उपोद्घात

विषय सूची।

स्वामी शंकराचार्य्य की जीवनी।

ओ३म्

उपोद्घात ।

जहाँ तक इतिहास से पता लगता है, पहिले ही पहिल बौद्धमत की शिक्षा वैदिक धर्म के विरुद्ध सिद्ध हुई, और इस के प्रभाव को रोकने के लिये सब से प्रबल काम स्वामी शंकराचार्य्य ने किया। इस पुस्तकमें हम इस महापुरुष का जीवन-वृत्तान्त अपने पाठकों को सुनाना चाहते हैं। परन्तु पूर्व इसके कि हम स्वामि शंकराचार्य्य का परिचय अपने पाठकों को दें, उचित जानपड़ता है कि प्राचीन शास्त्रों द्वारा बताएं कि वैदिक धर्म क्या है ? और प्राचीनत्वकी दृष्टि से कितना पुराना धर्म है, और फिर उन बातों का वर्णन करें जो स्वामि शंकराचार्य्य के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं।

वेद क्या है ?

बच्चे के जन्मते ही उसके माता पिता बच्चे की आवश्यकता के अनुसार सारी आवश्यक सामाग्री सम्पादन कर दिया करते हैं। उस सर्व-शक्ति दयालु परमात्मा ने जिस समय इस सृष्टि को उत्पन्न किया और मनुष्य को इस पर अध्यात्म उन्नति के लिये भेजा, तो उसने पहिले भूमि को इस योग्य बना दिया था, कि वह इस पर निवास कर सके, भूमि उसके लिये सब प्रकार के उद्भिद् उत्पन्न करने का सामर्थ्य लाभ कर चुके। सूर्य्य चन्द्र और तारा आदि उसको प्रकाश प्रदान करें, और उन समस्त बाह्य साधनों से मनुष्य बिना किसी प्रकार के क्लेशके रह सह सके। परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है, क्या माता पिता

अपनी सन्तान के लिये खाने पीने की सामग्री सम्पादन कर देने ही से अपना कर्तव्य पूर्ण कर लेते हैं ? इसका उत्तर नकार में है । इन बाह्य साधनोंके अतिरिक्त माता पिता अपनी सन्तान को आचार व्यवहार की शिक्षा भी देते हैं, विद्या और विनय से सम्पन्न करतेहैं । सो जब लोक से हमको यह शिक्षा मिलती है तो फिर यह बात किस प्रकार विश्वसनीय हो सकती है कि परमेश्वर ने सारे विश्व को उत्पन्न करके उसमें मनुष्य को डावांडोल अवस्था में छोड़ दिया हो । यदि ऐसी दशा होती तो मनुष्य न तो बोलना सीखता और न ही किसी प्रकार की उन्नति कर सक्ता । अतएव यह बात निर्धारित है कि जिस प्रकार परमेश्वर ने मनुष्य के लिये रहने सहने खाने पीने और देखने आदि की सामग्री उत्पन्न की. उसी प्रकार उस परम पिता ने अपने निज स्वभाव के अनुसार, अपनी सन्तान के लिये, ज्ञान का भण्डार भी खोल दिया और उसे सिखा दिया कि लोक में परस्पर वर्ताव के ये नियम हैं, मुक्ति लाभ करने और परमेश्वर का दर्शन करने के लिये अमुक २ तपश्चर्य्या का करना आवश्यक है । लोक में सुख से जीवन विताने के लिये स्थावर और जङ्गम जगत् से इस प्रकार काम लेना चाहिये इत्यादि । इस ज्ञान को मनुष्य ने अन्ततः पुस्तक के आकार में लिपि-बद्ध कर लिया । आज तक हमारे पास ये पुस्तक दायाद्य (विरासत) में चले आते हैं इन पुस्तकों का नाम वेद है ।

वेदों का समय

वेदों का समय मनुष्य की उत्पत्ति से ही आरम्भ होता है जो मनुष्य सब से पहिले आदि सृष्टिमें हुए उन को संस्कृत में आदिम

कहते हैं। परन्तु आदिम शब्द से ईसाईयों और मुसल्मानों की नाईं यह न समझना चाहिये कि आदि सृष्टि में केवल एकही आदिम और एक ही हव्वा हुई, कदापि नहीं। किन्तु अपने पहिले कल्प के कर्मों के अनुसार बहुत से मनुष्य क्या पुरुष क्या स्त्रियें, आदि सृष्टि में उत्पन्न हुए, और इसीलिये सारे ऐसे मनुष्यों को संस्कृत में आदिम कहते हैं।

आदि सृष्टि में एक से अधिक मनुष्यों के होने की युक्तियें तो बहुतसी हैं। परन्तु हम इस समय यहां उनसे काम लेना नहीं चाहते किन्तु देखते हैं कि, इस विषय पर वेद में क्या लिखा हैं? अथर्व वेद में आया है।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे मनुष्या ऋषयश्चये ॥

जो सब से पीछे रहने वाला है उस से मनुष्य और ऋषि उत्पन्न हुए।

इस मन्त्र से स्पष्ट प्रकट है कि सृष्टि के विनाश होने के पीछे जो शेष रहता है अर्थात् परमेश्वर उसी से फिर उत्पत्ति के समय मनुष्य और ऋषि उत्पन्न हुए।

अब यह देखना है कि जिस समय मनुष्य उत्पन्न हुआ क्या उसी समय उसको ज्ञान दिया गया? इस विषय में ऋग्वेद में आदि सृष्टि के प्रकरण में आया है।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

* उस सर्वहुत यज्ञसे (मनुष्य के उत्पन्न होते ही) ऋचा, साम उत्पन्न हुए उसी से छन्द और उसी से यजुः उत्पन्न हुए ॥

अतएव यह सिद्ध हुआ कि वेदों का समय मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही आरम्भ होता है ।

वेद सबसे पुराने पुस्तक हैं ।

वेदों की प्राचीनता के विषय में किसी भी जाति के विद्वानों को आज तक सन्देह नहीं हुआ । आजकल योरुप के अन्वेष्टा विद्वान् भी इस बात को मानते हैं कि ऋग्वेद भूलोक के पुस्तकालय में सब से पुराना पुस्तक है ॥

जगत् की उत्पत्ति के विषय में ईसाइयों का मत ।

ईसाईयों का मत है कि इस लोक को बने और मनुष्य को उत्पन्न हुए पांच सहस्र वर्षों से अधिक समय नहीं हुआ । इसका मूल बाइबल की शिक्षा है । बाइबल के प्रमाणों से मनुष्य की उत्पत्ति का परम्परा-क्रम पांच सहस्र वर्षों से पीछे नहीं जाता । योरुप की जातियें सब की सब बाइबल की अनुयायी हैं अतएव वे अपने अन्वेषण में मनुष्य सम्बन्धी किसी वस्तु को पांच सहस्र वर्षों से अधिक आयु का नहीं बताती थीं ।

पदार्थ विद्या इस विश्वास के विरुद्ध है

परन्तु योरुप की ही आज कलकी पदार्थ विद्या इस मिथ्या विश्वास के विरुद्ध है पदार्थ विद्या के प्रामाणिक अन्वेषण के सामने बाइबल को भी सिर झुकाना पड़ा है । उत्पत्ति

---

* वेद छन्दों की अपेक्षा से तीन भागों में विभक्त हैं (१) ऋचा (वेदों का पद्य) साम (वेदों का राग) यजुः (वेदों का गद्य)

के पुस्तक में लिखा है कि ईश्वर ने छः दिनों में जगत् को उत्पन्न करके सातवें दिन विश्राम किया। पदार्थ-विद्या बताती है, पूर्व इसके कि जगत् मनुष्यके निवास के योग्य बने उसको लाखों वर्ष अपनी प्रथम अवस्था के बदलने में अपेक्षित हैं। इसी उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे भाग में बाइबल के अनुयायी पादरियों की योरुप में एक सभा हुई और उन्होंने उत्पत्ति के छः दिनों की छः कल्पों में व्याख्या करके कहा कि उत्पत्ति के दिन अपने परिमाण में २४ घण्टों के नहीं किन्तु एक दिन से अभिप्राय एक कल्प से है। पर शोक है! कि आज तक उन्होंने अपने कल्प के आयुः का परिमाण नहीं बताया। और बता भी क्योंकर सकते हैं? क्योंकि उनके पुस्तकों में इस प्रकार के दिन का कोई नाम और चिन्ह नहीं पाया जाता। उन्होंने आर्य्यों से इस मन्तव्य को लिया है और पदार्थ-विद्या के प्रबल धक्के से अपने मत को बचाने के लिये एक ऐसा मन्तव्य उपस्थित कर दिया है जो केवल मन्तव्य ही मन्तव्य है॥

पदार्थ विद्या जूं २ उन्नति करती गई, तूं २ वह जगत् के आयु को बढ़ाती गई। प्रोफैसर ऐसन्यू कौम्प अपनी पापूलर ऐस्ट्रानोमी के पृष्ट ५०६ पर लिखते हैं कि जब पृथिवी शीतल होकर उद्भिद् उगाने के योग्य हुई उस समय से आज तक एक करोड़ वर्ष बीते होंगे। प्रोफैसर मिलनर दो करोड़ लिखते हैं और प्रोफैसर कराल सात करोड़ का समय इस प्रयोजन के लिये नियत करते हैं। सरविलयम टाम्सन दस करोड़ का। एक और ग्रन्थकर्त्ता मनुष्य की उत्पत्ति का समय तीस करोड़ लिखते हैं, प्रोफैसर रैड का विचार है कि पचास करोड़ वर्ष हुए कि

योरुप में उद्भिद् उत्पन्न होने आरम्भ हुए और प्रोफेसर हक्सले इस शताब्दी के प्रसिद्ध भूगर्भवेत्ता अपने पुस्तक यरल्डुलाइफ के पृष्ठ १८० पर लिखते हैं कि जब से भूमि पर उद्भिद् उगने आरम्भ हुए उस से आज तक एक अर्ब वर्ष बीते होंगे ॥

इससे पाया जाता है कि योरुप के परीक्षकों का अन्वेषण अभी तक पराकाष्ठा को नहीं पहुंचा और उनके पास जगत् की उत्पत्ति की कोई विश्वस्त तिथि या मिति नहीं है ॥

अब हम देखते हैं कि प्राचीन आर्य्य शास्त्रों में जगत् की उत्पत्ति का कुछ वर्णन है या नहीं। ज्योतिष के पुस्तकों में इस विषय पर बहुत कुछ विचार है और सब

आर्य्य शास्त्रों द्वारा जगत् उत्पत्ति का समय

के सब जगत् की उत्पत्ति का एक ही समय स्थिर करते हैं। उन्होंने इस विषय पर युक्तियुक्त अन्वेषण किया है और सब एक ही परिणाम पर पहुंचे हैं। आर्य्यावर्त में प्रति वर्ष जो तिथि-पत्रिका प्रचरित होती हैं, उनमें जगदुत्पत्तिकी बराबर मिति लिखी चली आती है। इस लिये आवश्यक नहीं कि हम इस प्रश्न पर भिन्न भिन्न अंशों में विस्तार के साथ विचार करें। हम केवल एक प्राचीन प्रामाणिक पुस्तक सूर्य्यसिद्धान्त के प्रमाणों से जगत् की उत्पत्ति की पहिले गणना करके तदनन्तर इस अद्भुत पुस्तक के प्रमाणों को अनुवाद सहित उद्धृत करेंगे ॥

दिन रात को बनाने वाला सूर्य्य है इस लिये इस दिन रात को सौर दिन रात कहते हैं ॥

सौर वर्ष का एक दिव्य दिन रात होता है अर्थात् छः मास का दिन और छः मास की रात्रि ॥

उत्पत्ति स्थिति और प्रलय को शास्त्रोंने भिन्न २ भागों में विभक्त करके इन भागों के भिन्न २ नाम रक्खे हैं सब से छोटे भाग युगों में विभक्त हैं। युग चार हैं कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग।

कलियुगका आयु ४३२००० चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष कहा गया है। द्वापर का इस से द्विगुण अर्थात् ४३२००० × २= ८६४००० आठ लाख चौंसठ सहस्र। त्रेता का कलियुग से त्रिगुण अर्थात् ४३२००० × ३=१२९६००० बारह लाख छयानवें सहस्र वर्ष। सत्ययुगका कलियुग से चतुर्गुण अर्थात् ४३२००० × ४=१७२८००० सत्तरह लाख अठाईस सहस्र वर्ष। इन चारों युगों का संकलन अर्थात् ४३२००० + ८६४००० + १२९६००० + १७२८०००=४३२०००० तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्ष के आयु को चतुर्युगी कहते हैं। चतुर्युगी को दिव्य युग भी कहते हैं और $\frac{४३२००००}{३६०}$=१२००० बारह सहस्र दिव्य वर्षों का एक दिव्य युग होता है। दिव्ययुग और चतुर्युगी से एकही अभिप्राय है। जब हम २४ घंटों के दिनरात को घड़ियों में गणना करते हैं तो हम कहते हैं कि ६० घड़ी का दिन रात है, परन्तु इस दिन रात में सूर्य्योदय से पहिले पौ फुटने का समय और अस्त से पीछे सायंकाल का समय सम्मिलित है। यदि हम इस समय को निकाल देवें तो दिन रात ५६ घड़ी का रह जाता है चार घड़ियें पौ फूटने और सायं समय में गिनी जाती हैं। संस्कृत में इस समय को सन्ध्या और सन्ध्यांश कहते हैं। इसी प्रकार युगों की भी सन्ध्या और सन्ध्यांश गिनी जाती

हैं। ऊपर की गणना में सन्ध्या और सन्ध्यांश का समय सम्मिलित है। यदि हम इस समय को ऊपर की गणना से अलग करदें तो एक हज़ार दिव्य वर्षों का कलियुग होगा और उसकी एक सौ वर्ष की सन्ध्या और सौ वर्षका सन्ध्यांश मिला कर पूरे बारह सौ दिव्य वर्षों का कलियुग हो जायगा। इसी प्रकार दो सहस्र दिव्य वर्षों का द्वापर होगा इसमें दो सौ वर्षों की सन्ध्या और दो सौ वर्षों का सन्ध्यांश संयुक्त करें तो दो सहस्र चार सौ दिव्य वर्षों का द्वापर होगा। तीन सहस्र वर्षों का त्रेता होगा इसमें तीन सौ वर्षों की सन्ध्या और तीनसौ वर्षों का सन्ध्यांश संयुक्त करने से तीन सहस्रछः सौ दिव्य वर्षों का त्रेता होगा। चार सहस्र दिव्य वर्षों का सत्ययुग इस में चार सौ दिव्य वर्षों की सन्ध्या और चार सौ दिव्यवर्षों का सन्ध्यांश सम्मिलित करने से चार सहस्र आठसौ दिव्य वर्षों का सत्ययुग होगा। इन सब का योग १२००+२४००+३६००+४८००=१२००० बारह सहस्र दिव्य वर्षों का एक दिव्ययुग वा चतुर्युगी होगी। सौरवर्षों की गणना—१२००० को ३६० के साथ गुणने से ४३२०००० सौर वर्ष हो जाते हैं। इस जगत् के स्थितिकाल को कल्प वा ब्राह्मदिन कहते हैं। एक कल्प में हज़ार चतुर्युगियां वा दिव्य युग होते हैं। अतएव १००० × ४३२०००० = ४३२०००००००० चार अर्ब बत्तीस करोड़ सौर वर्षों का एक कल्प वा ब्राह्मदिन होता है। और यही इस लोक के आयु का परिमाण है॥

यह गणना एक और प्रकार से भी की जाती है अर्थात् इकहत्तर चतुर्युगियों का मन्वन्तर होता है और चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प। इसलिये ७१ × १४=९९४ चतुर्युगियां

हुआ। हमने ऊपर लिखा है कि कल्प में हज़ार चतुर्युगियां होती हैं और इस गुणनफल में छः का अन्तर है। ज्योतिः शास्त्रों ने इस के विषय में लिखा है कि प्रत्येक मन्वन्तर की समाप्ति पर सत्ययुग के समय के बराबर एक सन्धि होती है और यह पहिले मन्वन्तर के आरम्भ ही से गिनी जाती है। इस प्रकार चौदह मन्वन्तरों में पन्द्रह सन्धियां आएंगी। इस लिये १७२८००० × १५=२५९२०००० दो करोड़ उनसठ लाख बीस हज़ार वर्ष सन्धियों के हुए। सो २५९२००००÷ ४३२०००० चतुर्युगी=६ चतुर्युगियां सो सन्धियों के समय में बराबर छः चतुर्युगियां सम्मिलित हुईं इस प्रकार ७१ × १४= ९९४ + ६ चतुर्युगियां सन्धियों की=१००० एक सहस्र चतुर्युगियां एक चतुर्युगी को सहस्र के साथ गुणने से ४३२००००००० चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होते हैं। जो एक कल्प का आयु है॥

यह गणना तो पाठकों ने समझ ली होगी अब इस विषय में सूर्य्य सिद्धान्त के प्रमाण लिखते हैं।

सूर्य्य सिद्धान्त मध्य अधिकार पूर्व खण्ड में दिन रात्रि और मासों का कथन करके लिखा है--

मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदह उच्यते ॥१३॥

बारह मासों का वर्ष होता है और उस को दिव्य दिन रात कहते हैं, अर्थात् छः मासका दिन और छः मास की रात्रि।

तत्षष्टिः षड्गुणा दिव्यं वर्षमासुर मेव च ।१४

दिव्य दिन रात को ३६० के साथ गुणने से दिव्य वर्ष बनता है, इस को आसुर वर्ष भी कहते हैं।

तद् द्वादशसहस्राणि चतुर्युग मुदाहृतम् ।
सूर्य्याब्द संख्यया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः ॥ १५

बारह हज़ार दिव्य वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। सौर वर्षों के दश हज़ार को ४३२ के साथ गुणने से सौर वर्ष निकलते हैं ॥

सन्ध्या सन्ध्यांश सहितं विज्ञेयं तच्चतुर्युगम्॥१६

इस चतुर्युगीमें सन्ध्या और सन्ध्यांशका समय सम्मिलित है

युगस्य दशमो भागश्चतुस्त्रिद्व्येक सङ्गुणः ।
क्रमात् कृत युगादीनां षष्ठांशः सन्ध्यांशकः १७

दिव्ययुग वा चतुर्युगी के दशवें भाग को चार तीन दो और एक के साथ क्रमशः गुणने से सत्ययुग त्रेता द्वापर और कलियुग का आयु निकलता है। इन के साथ इन के अपने सारे आयु का छठा भाग दोनों सन्ध्याओं का होता है।

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तर मिहोच्यते ।
कृताब्द संख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः

७१ युगों का एक मन्वन्तर होताहै प्रत्येक मन्वन्तर की समाप्ति पर सत्ययुग के बराबर सन्धि होती है इस को जल* प्लव कहते हैं।

---

* सूर्य्य सिद्धान्त का प्रणेता इस श्लोक से यह जितलाता है प्रति मन्वन्तर की समाप्ति पर सारी भूमि पर पानी की बाढ आजाती है ॥

ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशःस्मृतः १९

एक कल्प में सन्धियों समेत चौदह मन्वन्तर समाप्त होते हैं और सत्ययुग के बराबर कल्प के आदि में एक पन्द्रहवीं सन्धि होती है।

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहार कारकः ।
कल्पो ब्राह्म महःप्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती ॥२०

इस प्रकार हज़ार युग समाप्त होने पर सारे भूतों का संहार करने वाला एक कल्प समाप्त होता है इस को ब्राह्म दिन कहते हैं इस की रात्रि का भी यही * परिमाण है।

---

* सूर्य्यसिद्धान्त के कर्त्ता ने केवल इस भूमि की उत्पत्ति और मिति पर ही विचार नहीं किया किन्तु इसने इस सारे ब्रह्माण्ड के आयु का भी परिमाण किया है और लिखा है कि इस ब्रह्माण्ड का आयु कितना समाप्त हो चुका है और अब कौन सा समय बीत रहा है। विद्वान् ग्रन्थकार ने लिखा है:—

परमायुः शतं तस्य तयाऽहोरात्र संख्यया ॥२१॥

उसी दिन रात (अर्थात् ब्राह्म दिन और ब्राह्म रात्रि) की गणना से सौ वर्ष की समाप्ति पर सारे ब्राह्माण्ड का आयु है। अर्थात् आठ अर्ब चौसठ करोड़ सौर वर्षों का ब्रह्माण्ड की स्थिति के लिये एक दिन रात नियत किया गया है। ऐसे दिनों के हिसाब से एक सौ वर्ष समाप्त होने पर सारा ब्राह्माण्ड नष्ट होगा और इस को महाप्रलय कहते हैं॥

सूर्य्यसिद्धान्त कब लिखा गया — अब यह देखना है कि सूर्य्य सिद्धान्त कब लिखा गया। इस विषय में सूर्य्य सिद्धान्त में लिखा है।

कल्पादस्माच्च मनवःषड् व्यतीताःससन्धयः ।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगान्तं त्रिघनो गतः ।
अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमेतत् कृतं युगम् ॥

इस कल्प के छः मन्वन्तर बीत चुके हैं और सातवें मन्वन्तर की सत्ताईस चतुर्युगियां भी समाप्त हो चुकी हैं। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी का सत्ययुग समाप्त हो चुका है (कि जब यह पुस्तक लिखा गया)।

इस गिनती से प्रतीत होता है कि इस पुस्तक को लिखे आज २१६५००१ इक्कीस लाख पैंसठ सहस्र एक वर्ष बीते हैं। इसकी गणना इस प्रकार की जा सक्ती है कि एक मन्वन्तर= एक चतुर्युगी ४३२०००० × ७१=३०६७२००००। और छः मन्वन्तर =३०६७२०००० × ६=१८४०३२०००० एक अर्ब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हज़ार वर्ष। हम पहिले लिख आए हैं कि प्रति

फिर लिखा है—

आयुषोऽर्द्धमितं तस्य शेषकल्पोऽय मादिमः२२

सारे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का आधा भाग बीत चुका है (अर्थात् पचास वर्ष बीत चुके हैं) और उस के शेष आयु में से यह पहिला कल्प (दिन) है॥

मन्वन्तर की समाप्ति पर सत्ययुग की आयु के बराबर एक सन्धि होती है और कल्प के आरम्भ में भी एक सन्धि होती है। इस लिये छः मन्वन्तरों में सात सन्धियें आईं। इन के आयु की गणना इस प्रकार है कि सत्ययुग का आयु १७२८००० ×७=१२०९६००० एक करोड़ बीस लाख छयानवें सहस्र वर्ष सन्धियों के। सो१८४०३२०००० + १२०९६०००=१८५२४१६०००. एक अर्ब पचासी करोड़ चौबीस लाख सोलह सहस्र वर्षों के छः मन्वन्तर हुए। सातवें मन्वन्तर की सत्ताईस चतुर्युगियां समाप्त हो चुकी हैं। एक चतुर्युगी का आयु ४३२०००० ×२७ चतुर्युगियों का आयु=११६६४०००० ग्यारह करोड़ छयासठ लाख चालीस सहस्र वर्षों के।

और फिर अठाईसवीं चतुर्युगी का सत्ययुग समाप्त हो चुका था अर्थात् १७२८००० वर्ष। सो जगत् के उत्पन्न होने के छः मन्वन्तर १८५२४१६००० + २७ चतुर्युगियां अर्थात् ११६६-४०००० + सत्ययुग१७२८०००=१९७०७८४०००एक अर्ब सत्तानवें करोड़ सात लाख चौरासी सहस्र वर्षों के पीछे सूर्य्य सिद्धान्त लिखा गया।

जब यहां तक गिनती स्पष्ट होगई तो आगे आज की

जगत् को उत्पन्न हुए कितना समय हुआ

मिति तक जगत् की उत्पत्ति की मिति निकालनी कोई कठिन नहीं क्योंकि इसी अठाईसवीं चतुर्युगी का अब कलियुग जा रहा है।

सूर्य्यसिद्धान्त की मिति १९७०७८४००० + त्रेता का आयु १२९६००० + द्वापर का आयु ८६४००० + विक्रम संवत् १९५८ तक के बीते कलियुग का समय ५००१=१९७२९४९००१।

अर्थात विक्रम संवत् १९५८ तक जगत की उत्पन्न हुए एक अर्ब सत्तानवें करोड़ उनतीस लाख उनचास हज़ार एक वर्ष हुए और अब का वर्तमान सं० १९७२९४९००२ है। इस में से १९७०७९४०००१ घटाने से विदित होता है, कि सूर्यसिद्धान्त को रचे आज इक्कीस लाख पैंसठ हज़ार एक वर्ष बीत चुके हैं।

आर्य्यावर्त में जो पञ्चाङ्ग प्रतिवर्ष बनते चले आते हैं, उन में बराबर जगत् की उत्पत्ति का एक वर्ष प्रतिवर्ष आज तक बढ़ाया जाता है। साधारण पञ्चाङ्गों में तो केवल अनि-क्रान्त तीन युगों का आयु बनाकर कलि-युग का आयु लिख देते हैं। परन्तु काशी और जम्बू आदि में जो पञ्चाङ्ग अच्छे ज्योतिषियों के हाथों से निकलते हैं, उन में यह अङ्क बराबर दिये जाते हैं, जैसा विक्रम सं० १९५८ का जो पञ्चाङ्ग बनारस से निकला है, उस में स्पष्ट लिखा है कि संवत् १९५८ तक जगत् की उत्पन्न हुए १९७२९४९००१ वर्ष हो चुके हैं।

जगदुत्पत्ति की इस स्थिति के और प्रमाण.

आर्य्यावर्त के पुराने विद्वानों ने जिस प्रकार वेदों की रक्षा की, उसी प्रकार सृष्टि के संवत् की भी की है। जैसा सारे देश में प्रचार है कि जब ब्राह्मण किसी पुरुष से कुछ मनसवाता है तो संकल्प पढ़ता है उस में यह कथन है कि इतने मन्वन्तर आदि के बीतने पर अमुक मास के अमुक पक्ष और तिथि में अमुक पुरुष अमुक फल के लिये दान करता है। संकल्प और उस का अनुवाद निम्न लिखित है—

संकल्प से भी यही स्थिति निकलती है।

ओं तत्सत्ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे अमुक संवत्सरायनर्तुमासपक्ष तिथिनक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदंकर्म क्रियते।

अर्थात् ओं तत्सत्, ब्रह्म के द्वितीय परार्द्ध (पिछले आधे भाग) में श्वेत वाराह नाम वाले कल्प में वैवस्वत नाम वाले मन्वन्तर में अठाईसवें कलियुग में और उसकी पहिली चौथाई में अमुक वर्ष अयन ऋतु मास पक्ष तिथि नक्षत्र लग्न और मुहूर्त में अमुक स्थान में अमुक कर्म किया जाता है इत्यादि।

इस भारी समय में वैदिक धर्म में कितने परिवर्तन हुए

समय का परिवर्तन।

इस का कोई ठीक ठीक प्रमाण मालूम नहीं। योरुप के परीक्षकों की तो यह सम्मति है कि आर्य्यावर्त के पूर्वजों को इतिहास लिखने में रुचि न थी। परन्तु यदि हम आर्य्यावर्त के उन पुस्तकों को देखें जो हमारे समय में मिलते हैं तो स्पष्ट पता लगता है कि यह ठीक नहीं। ये पुस्तक बड़े २ विद्वानों की लेखनी से निकले हुए हैं और योरुप के अन्वेष्टा विद्वान् भी इन पुस्तकों के सामने सिर झुकाते हैं फिर क्या हम इस परिणाम पर पहुंच सके हैं कि जिन विद्वान् ऋषियों में उपनिषद्, दर्शन, चरक और सुश्रुत आदि लिखने की बुद्धि थी, वे इतिहास की विद्या से नितान्त अपरिचित थे कदापि नहीं। पुराने इतिहासों के न मिलने के बहुत से कारण हैं।

(१) सूर्य्यसिद्धान्त के विद्वान् कर्त्ता की सम्मति के अनुसार जगत् की उत्पत्ति से आज तक छः पानी की बाढ़ आचुकी हैं। अन्तिम बाढ़ को आए आज १२०५३३००१ बारह

करोड़ पांच लाख तेतीस सहस्र एक वर्ष वीते हैं । इन धाढ़ों से क्या २ विद्या के कोप नष्ट हुए इसका पता लगाना असम्भव है । इतना भी वहुत है कि ऐसे विनाशों में इस देश के ऋपियों ने वेदों की रक्षा की और आज तक हम उनकी अनुपम शिक्षा से लाभ उठा रहे हैं ॥

फिर प्रश्न उत्पन्न होता है ? कि वारह करोड़ वर्षों का तो कोई इतिहास होना चाहिये । जो पुस्तक दायाद्य में हम तक पहुंचे हैं, उनमें बहुत से पुस्तकों के ऐसे नाम मिलते हैं जो आज नहीं मिलते । यथा-वे वेदाङ्ग जो ब्राह्मणों के समय से पहिले थे और अब नहीं मिलते ; वेदों की कोई ग्यारह सौ शाखाएं, मानव सूत्र संग्रह, ज्योतिप के कई एक ग्रन्थ जिनका नाम वर्तमान पुस्तकों में मिलता है । पुराने दर्शन, कि जिनके आधार पर वर्तमान दर्शन बनाए गए, पदार्थ विद्या के ग्रन्थ, धनुर्विद्या विपयक पुस्तक, नीति के वे पुस्तक जिनका कथन नीतिके वर्तमान पुस्तकों में है । निदान प्रत्येक विपय के पुस्तक से यह पता लगता है, कि उस पुस्तक की रचना से पहिले उसी विपय पर और पुस्तक विद्यमान थे । और साथ ही इतिहास के पुस्तकों का भी पता लगता है । इन पुस्तकों से पता लगाता है, कि किसी समय में भृत-भाप नामक पुस्तक लिखा गया था, जो इतिहास का पुस्तक है । इस के विना अष्टाध्यायी, निरुक्त, उपनिपद् और ब्राह्मणों में इतिहास का शब्द वर्तमान है और उन में कई एक ऐतिहासिक इतिवृत्त वर्तमान हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि वे अवश्य किसी इतिहास के आधार पर लिखेगए हैं । इसके विना देशावलि आदि ऐतिहासिक पुस्तक यद्यपि नवीन हैं तथापि संम्पूर्ण नहीं मिलते ॥

(२) मालूम होता है। कि बारह करोड़ वर्षों में भी वैदिक धर्म में बहुत से परिवर्तन आए और उनके कारण बहुत से विद्या के कोष नष्ट भ्रष्ट हो गए। विरोधि मत वालों ने इस देश पर बहुत से आक्रमण किये और विद्या के कोषों का सत्यानाश किया।

(३) पाणिनिके सूत्रोंमें ऐसे पुस्तकोंके सद्भावमें प्रमाण मिलते हैं,जिनमें नाटकों के लिखने के नियम बांधे गए हैं।नाटक प्रायः ऐतिहासिक इति-वृत्त के आधार पर बना करते हैं। इस से सिद्ध होता है कि आर्य्यावर्त के पूर्व पुरुष इतिहास लिखा करते थे, क्योंकि नाटकों का समय इतिहास के पीछे का समय हुआ करता है॥

इतिहास के पुस्तक — तथापि रामायण और महाभारत दोनों इतिहास के माननीय पुस्तक आज तक हमें मिलते हैं। रामायण तो साढ़े आठ लाख वर्ष के लगभग का इतिहास है। और महा भारत पांच हज़ार वर्षों का। पर इन पुस्तकों से स्पष्ट पाया जाता है, कि समय के फेर ने उन में बहुत सी मिलावट करदी है। वर्तमान महाभारत किसी और भारत के आधार पर लिखा गया है, जैसे महा-भाष्य में कौरव पाण्डवों के विषय में कई एक ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो वर्तमान महा भारत से उद्धृत किये हुए नहीं। फिर राज-तरङ्गिणी नामक इतिहास का पुस्तक आज कल भी मिलता है। इस पुस्तक में कौरव पाण्डवों के राज्य का समय सम्वत् ६५३ कलियुग का बताया गया है। यह मिति महा-

भारत में विद्यमान नहीं । इस से स्पष्ट है, कि जब राजतरङ्गिणी लिखी गई उस समय और इतिहास के पुस्तक विद्यमान थे कि जिन के आधार पर यह पुस्तक लिखा गया । इस पुस्तक के प्रमाण से कौरव पाण्डवों के राज्य के समय को आज चार हज़ार तीन सौ उनतालीस वर्ष व्यतीत हुए हैं ॥

बड़े २ परिवर्तन

सर्वथा, इस में संदेह नहीं कि जो २ लहा चढ़ा वैदिक-धर्म में हुए, वे उसके परिवर्तन के साथ जकड़े हुए हैं । वेदों के विना जो पुस्तक हमें मिलते हैं उन से यह पता लगता है कि वेदों का प्रचार बहुत काल तक रहा और सारे कर्म उन्हीं के सहारे अनुष्ठान होते रहे । उपनिषदों में भी कर्म-काण्ड के पूरा करने के लिये वेदों ही की ओर निर्देश किया गया है ॥

मालूम होता है कि वेदों में स्वाभाविक यज्ञों और अग्निहोत्र आदि करने का जो वर्णन है, किसी समय में उन यज्ञों की रीति पर बड़ा बल पड़ने लगा और उसके साथ ही नए यज्ञ, नई रीतियें, और नए विचार उनमें सम्मिलित होने लगे ॥

ब्राह्मण ग्रन्थों का समय ।

इस मिलावट ने ब्राह्मणों के समय को उत्पन्न किया । इन ग्रन्थों के लिखने का भारी उद्देश्य यही था कि इन यज्ञों पर विचार करके उस समय के वर्तमान विवाद को समाप्ति पर पहुंचाया जाए । इन पुस्तकों के पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन के पहिले श्लोक, मनुश्लोक और गाथा आदि विद्यमान थे । इन सब को संग्रह

करके इनके अनुकूल ऐतरेय आदि ब्राह्मण लिखे गए। उन में यज्ञों का वर्णन करते हुए कई प्रकार के मत मतान्तरों पर विवाद किया गया है और कई मतों का खण्डन मण्डन भी किया है॥

ब्राह्मणों के पहिले जो श्लोक, अनुश्लोक आदि थे। उनका मूल उन से पहिले प्रवाद मालूम होते हैं, अतएव ब्राह्मणों में श्लोक अनुश्लोक और गाथाओं के बहुधा प्रमाण मिलते हैं। जहां ये बातें ब्राह्मणों के समय का पता देती हैं वहां इन से यह भी स्पष्ट प्रकट होता है कि ब्राह्मण वेदों से बहुत चिर पीछे अपने समय के विवाद ग्रस्त विषयों पर निर्णय देने और उस समय की सारी वर्तमान पद्धतियों को एक रीति पर लाने के लिये रचे गए थे। यह मालूम नहीं होता कि इन्हें लिपिबद्ध हुए कितना समय बीता है।

अन्य आर्ष ग्रन्थों का समय — ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ ही आरण्यक और उपनिषदों का समय है। अनुब्राह्मणों का समय उस से पीछे का है और सूत्रों के समय में, ब्राह्मणों के समय की नाईं, गृह्यसूत्र भी समय की वर्तमान रीति और पद्धति को एक विशेष रीति पर लाने के लिये लिखे गए थे। सूत्रों के समय के पीछे दर्शनों का और उस समय के पीछे स्मृतियों का समय है॥

इन सारे पुस्तकों के रचे जानेकी कोई विशेष तिथि स्थिर करना बड़ा कठिन है। बहुत से योरुप के विद्वानों ने इस में बहुत कुछ प्रयत्न किया है और इन सब ने इन सारे पुस्तकों का लिखा जाना मसीह से हज़ार १५ सौ वर्ष पहिले बताया है।

परन्तु इन पुस्तकों में गहरा प्रवेश करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह भ्रान्ति है और इस धोखा खाने के बहुत से कारण हैं । जैसा हम देखतेहैं कई विद्वान् किसी सिद्धान्त विशेष के प्रचार का समय किसी एक व्यक्ति के साथ पहिले नियत कर लेतेहैं । और फिर उसी आधार पर उन सारे पुस्तकों का समय नियत करते हैं जिन में उस सिद्धान्त का नाम है । उनके इस प्रकार के अन्वेषण के प्रकार को लेकर हम यह भी कह सक्ते हैं कि साधारणतः अद्वैत के सिद्धान्त का प्रचार शंकराचार्य्य के समय से है । इस सिद्धान्त की प्रवृत्ति को शंकराचार्य्य के समय से ही मान कर हम कह सक्ते हैं, कि गीता में यह सिद्धान्त पाया जाता है इस से विदित होता है कि श्री कृष्णचन्द्र और श्री रामचन्द्र जी शंकराचार्य्य के पीछे हुए । क्योंकि योग वासिष्ठ में रामचन्द्रजी को इस विषय का उपदेश किया गया और गीता में श्री कृष्णचन्द्र जी ने स्वयं इस विषय का उपदेश किया है । परन्तु आर्य्यावर्त के निवासी जानते हैं, कि इस प्रकार का अन्वेषण कहां तक प्रामाणिक हो सका है । श्रीरामचन्द्र जी और श्री वाल्मीकि जी का एक ही समय है । वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामचन्द्र जी की उत्पत्ति का समय ज्योतिर्विद्या के अनुसार नक्षत्रों के स्थान बताए गए हैं । और लिखाहै कि वे त्रेतामें हुए । इससे प्रतीत होता है, कि साढ़े आठ लाख वर्षों से अधिक समय हुआ कि रामचन्द्र जी और उनका जीवन चरित्र लिखने वाले वाल्मीकिजी हुए और श्रीकृष्णचन्द्रजीको हुए चारहजार वर्षोंसे अधिक समय हुआहैं जैसाकि पीछे वर्णन कर आए हैं ।

जो आर्ष ग्रन्थ हमें इस समय मिलते हैं, उनसे यह तो

वैदिक-धर्म का समय

पाया जाता है, कि इस देश के इतिहास में एक बड़ा लम्बा समय ऐसा था, कि जब वैदिकधर्म्म अपने उच्चसिंहासन पर विराजता था। यद्यपि पद्धतियों को एक रीति पर लाने के लिये अनेक बार प्रयत्न हुए और रीतियों में बहुत से परिवर्तन भी हुए। परन्तु यहां के निवासी एक ही धर्म के अनुयायी रहे। वे एकही इष्टके उपासक, और फिर सबके सब एकही सचाई की शिक्षा देनेवाले गुरुकुलों के शिष्य थे। दूसरे देशों के विद्वान् अपने आप को इस देश का खिला चुनने वाला बताते थे। और आर्य्यावर्त अपनी उदारता में इतना बढ़ा हुआ था, कि दूसरे देशों को अपनी शिक्षासे लाभ पहुंचाए विना न रहसक्ता था। इसकी शिक्षा एकमुखी न थी, वरञ्च मानुष जीवन को सारे अङ्गों में पूर्ण बनाने की शक्ति रखती थी। यह शिक्षा जहां एक ओर जीवन को पलटा देने वाले निष्काम-भाव को प्रकट करती है वहां दूसरी ओर भक्ति के प्रेम और परमात्मतत्त्व को अनुभव करने के लिये उपासना और ज्ञान-काण्ड की दौलतसे माला माल बना देती है। वेदों के गौरव के समय ने वे ऋषि उत्पन्न किये, जिन्होंने उपनिषदों की अद्वैतता के मोतियों को हृदय के समुद्र से निकाल कर जिज्ञासु जौह-रियों के सामने रखकर रत्नाकर के पद लाभ लिये। और फिर उसने वे मुनि उत्पन्न किये, जिन्हों ने उपासना और कर्म के अमृत की योग और मीमांसा की नदियें आत्मिक-

शान्ति के पिपासुओं के लिये वहा दीं, उस समय के उपदेशक दूर २ देशों में वेदों की सहायता से लोगों की धार्मिक दशा को शुद्ध बनाते थे। राज ऋषियों के झंडे अपने देश से बाहिर भी आकाश में सिर ऊंचा किये अपने यौवन में लह लहा रहे थे। यह वह समयथा, जब ऋषि राजों महाराजों को राक्ष-सोंके दमन के लिये अपने साथ ले जाया करते थे। पुत्र पिता की आज्ञा पर प्रसन्नमुख राज्य छोड़ जंगल में जा मुनियों की नाई जीवन बिताने को अपना अहोभाग्य समझता था। छोटा भाई बड़े भाई की विपद् को अपनी विपद् जानता था। माता पिता के दिये हुए राज्य को बड़े भाई की भेंट करके बेटों की नाई उनकी सेवा करना अपना कुलधर्म समझताथा। इस समय में प्रतिज्ञा पालन के अर्थ अपने प्राणतक का दे देना गौरव का हेतु माना जाता था। यह समय सच्चाई ब्रह्म-चर्य्य और शस्त्रास्त्रविद्या के भूषणों से भूषित था। इस समय के लोग धर्मात्मा और सन्तुष्ट थे। उनकी सचाई आबालवृद्ध प्रसिद्ध थी। वे यज्ञ हवन और अपने नित्य कर्मों के करने को ऐसा आवश्यक समझते थे जैसा कि खाना खाना। उदा-रता उनको दायाद्य में मिली थी। एक दूसरे से नम्रता के साथ वर्तना, मीठा बोलना और अतिथि सेवा उनका नैस-र्गिक धर्म था। नेक काम करना, भक्ति से प्यार, धन का उचित व्यवहार, देश हित, स्वतन्त्रता, अनाथों पर दया, उनके स्वभाव में कूट २ कर भरे हुएथे। उस समय के ब्राह्मण धन के अर्थ विद्यादान को पाप समझतेथे। जो राजा होकर अपने धर्म का पालन न करे उससे भिक्षा लेना उनके निकट

महापाप था। अतएव अश्वपति जैसे विख्यात राजा को भी अपनी भिक्षा स्वीकार कराने के निमित्त ब्राह्मणों के आगे कहना पड़ता था।

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

मेरे देश में कोई चोर नहीं, न कोई कदर्य्य है, न कोई मद्य पीने वाला है और न कोई ऐसा पुरुष है जो अग्नि होत्र न करता हो न व्यभिचारी है फिर व्यभिचारिणी कहाँ।

फिर क्षत्रिय रणभूमि में मरने को अपना धर्म जानते थे। वैश्य व्यापार के द्वारा अपने देश को मालामाल बनाए जाते थे। और शूद्र अपने अपनत्व को मार कर देश की सेवा करते हुए अपने जीवन में इस जीवित उदाहरण को दिखा रहेथे कि धर्म मार्ग पर चलने के लिए हम प्रथम यात्रा को अतिक्रम कर रहे हैं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि उस समय के मनुष्य न लालची, न कंगाल। न कदर्य्य और न झूठ बोलने वाले, न कामी और न क्रोधी थे। वेद और ईश्वर पर उन का पूर्ण विश्वास था। स्त्रियें पतिव्रता, मीठा बोलने वाली और धर्म के हेतु अपने प्राण न्योछावर करने वाली थीं। जबतक यौवन में न पहुंचलें क्या पुरुष और क्या स्त्री, नर और नारी के भेद को नहीं समझते थे। और इसीलिये मृत्यु को भी यह शक्ति न थी, कि माताओं की गोद से नन्हे २ बच्चे छीन

ले। इस ब्रह्मचर्यके समय में प्रत्येक मनुष्य आनन्द के एक एक मोती को अपने जीवन के तागे में परो रहा था।

यह जीवन का समय था। जहां एक ओर प्रकृति ने इस देश के बाह्यजीवन को सारे गुणों से सजा दिया था वहां दूसरी ओर उस प्रकृति के स्वामी ने इस देश के अध्यात्मिक जीवन को भी अपनी सनातन शिक्षा से शोभायमान कर रक्खा था। परन्तु हा शोक! यह समय का फेर किसी वस्तु को एक अवस्था में नहीं रहने देता। आज जहां भूमि का एक प्रदेश ओषधि और वनस्पतियों से हरितवर्ण होरहा है, कल वही बंजर पड़ा दिखाई देता है। आज जहां उजाड़ है कल वहां सघन बस्ति दृष्टि आती है। जो जाति कल शूरवीर और दूसरे देशों की शिरोमणि समझी जाती थी। वह आज दूसरों का सिला चुनती है। कल जो बलवान् थे आज वे दुर्बल हैं। कल जो सभ्य और महान् थे आज वे जंगली और क्षुद्र हैं। कल जो विद्वान् थे आज वे मूर्ख हैं। और यह कोई नई बात नहीं, कहावत है—"पतनान्ताः समुच्छ्रयाः"—'सब दिन जात न एक समान"। प्रकृति केवल प्राणधारियों की ही अवस्था में ऐसे ऐसे परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर देती, अपितु, जहां कोई नद किसी समय में बड़े वेग के साथ ठाठें मारे बहा जाता है। एक समय बीतने पर वह इतना परे चला जाता है कि ऊपर के तल पर इसका कोई चिन्ह शेष नहीं रहता। हां ऊपर का परदा उठाने पर नीचे की तहें इस बात की साक्षी देंगी, कि किसी समय में यहां एक ऐसा नद बहता

था कि जिस का पार होना कोई सुगम बात न थी। वीर से वीर पुरुष उसके पानी में पाओं डालने से डरता था बड़े बड़े बेड़े भी बलि देकर पार जाने का साहस करते थे॥

सचमुच यही दशा इस देश और जाति की है। इस के जीवन का कोई चिन्ह ऊपर के तल पर विद्यमान नहीं। परन्तु नीचे की तहों में उच्च जीवन, शूरवीरता के जीवन, उत्साह के जीवन, ब्रह्मचर्य्य और विद्यादान के जीवन, हां धर्म्म के जीवन के चिन्ह स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसके ऊपर का तल देश और जाति की वर्तमान दशा है और नीचे की तहें इस के पिछले गौरव को जता रही हैं।

मालूम होता है कि जब आर्य्यावर्त्त अपनी पूर्ण उन्नति

वैदिक-धर्म की अवनति

पर था, तो घरकी निश्चिन्तता धन की बहुतायत और शत्रुओं से निर्भयता ने उसे भोग-विलास में डालदिया। राजकुमारों ने राज्य के हिस्से करलिये। भाइयोंमें द्वेष उत्पन्न होगया। विद्या के लाभसे लोग मन चुराने लगे। प्रचार के अर्थ वेदों के विभाग हुए। और एक एक वेद की रक्षा के लिये ऋग्वेदी यजुर्वेदी, सामवेदी और अथर्ववेदी सम्प्रदाय स्थिर हुए। पर उन्होंने भी अपने काम को पूरा न किया। वेदों का पढ़ना पढ़ाना केवल पाठ मात्र ही रहगया। उसके जानने और अनुष्ठान करने वाले दूसरे लोक में जा बसे। अब वे आचार और रीतियें जो बड़ों ने चलाई थीं वैदिक धर्म कहलाने लगे। ज्ञानकाण्ड से लोगों ने सर्वथा मुंह फेर लिया और कर्म काण्ड ही को

मुक्ति का द्वार मानने लगे । कर्म काण्ड के भी सारे अनुष्ठान से यहां तक गिर गए, कि होते होते विधि यज्ञ ही सारे जीवन का उद्देश्य और मोक्ष प्राप्ति का पूरा साधन समझा गया । इस प्रकार धर्म का बल टूट गया । बाहिर के आडम्बरों ने बल पकड़ा । वर्णोंमें गुणकर्म का कोई विचार न रहा, जन्म के आधार पर बड़ाई छुटाई ने अपना पाओं जमा लिया । ब्राह्मण अपने आप को सब से बड़ा और दूसरों को छोटा समझने लगे । शूद्र बेचारे सब की दृष्टि में गिर गए और उन के लिये ब्राह्मणों ने वेदों का द्वार बन्द कर दिया । स्त्रियों का पढ़ना पढ़ाना बन्द कर दिया गया । और उन्हें भी शूद्र की पदवी दी गई ॥

बुद्ध का समय

जगत् में आकर्षण प्रत्याकर्षण का अद्भुत नियम पाया जाता है । अब जहां धर्म से निरपेक्षता ने आर्य्यों को इतना गिरा दिया था कि वे बाह्य आडम्बरों के बिना और किसी वस्तु को मुक्ति का द्वार नहीं मानते थे । और बलिदान पर ही अपने सारे जीवन के आदर्श का निर्भर रखते थे प्राकृत नियम के मार्ग से अब एक ऐसे मनुष्य की आवश्यकता थी, जो इन आडम्बरों के विरुद्ध शिक्षा दे । दुर्बलों को अत्याचारियों के हाथ से छुड़ाए । मिथ्याभिमान को, जड़ से उखाड़ दे और धर्म का द्वार सब के लिये खोले । जीवन की पवित्रता और शुचिता की शिक्षा दे । इस काम को पूरा करने के लिये शाक्यमुनि गौतम उत्पन्न हुए ।

शाक्यमुनि गौतम वा बुद्ध राजा का लड़का था । उसके

हृदय पर जगत् की अनित्यता ने इतना प्रभाव जमाया कि वह अपने सारे राज्य पर लात मार कर जङ्गल में चिरकाल तपस्या करता रहा। अपने जीवन को शुद्ध पवित्र बना कर एक अच्छे समय के पीछे इस राजकुमारने उस समय के वर्तमान धर्मके विरुद्ध प्रचार का बीड़ा उठाया और अपने उस धर्म की नीव डाली कि जिसका नाम बौद्ध-धर्म है। इस धर्म के द्वारा उसने शिक्षा देनी आरम्भ की कि सब मनुष्य एक जैसे हैं जात पात का भेद झूठा है। मोक्ष प्राप्ति का यह साधन है, कि हम यहांके विषयों और तृष्णासे अलग रहें, सच्चाई, पवित्रता और धर्मभाव को अपने जीवन में दिखाएं और इन से बढ़ कर सारी सृष्टि के साथ अच्छा वर्त्ताव करें उन्हें दुःख न पहुंचाएं। पशुओं का बलिदान पाप है। इस सीधी साधी शिक्षा ने लोगों की सहानुभूति को इस की ओर खींचा। और आडम्बरों से पूर्ण और न्याय से शून्य शुष्क शिक्षा को लोगों की दृष्टि से गिरा दिया॥

महात्मा बुद्ध कलियुग सं० २५४५ में उत्पन्न हुए और ८० वर्ष के आयु में कलियुग सं० २६२५ में उन्हों ने यह लोक छोड़ा। महात्मा बुद्ध और उनके शिष्य ब्रह्ममुहूर्त में उठते थे। उनका पहिला समय ज्ञान ध्यान और आपस में बात चीत करने में व्यय होता था। फिर वे सब नगर की ओर भिक्षा करने को जाते थे, मुख से कुछ नहीं बोलते थे और नेत्र नीचे किये हुए चले जाते थे। इन के पवित्र जीवन ने लोगों पर बड़ा प्रभाव डाला॥

राजा अशोक) लग भग तीन सौ वर्षों के बौद्ध-धर्म,

प्रचारकों के द्वारा साधारण में फैलता रहा। इस अवसर में राजा अशोक ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया और उसने कलियुग सं० २८५८ में अपने लड़के को लङ्का में इस धर्म के प्रचार के लिये भेजा। साथ ही इसे राज्य-धर्म ठहराया और अपने उपदेशकों को योरुप और एशिया के भिन्न भिन्न देशों में प्रचार के लिये भेजा। राजा अशोक के कारण बौद्ध-धर्म को बहुत पुष्टि मिली। राजा अशोक कलियुग सं० २८७८ में परलोक सिधारे॥

बौद्ध-धर्म कब तक आर्य्यावर्त में रहा

राजा अशोक के पीछे बौद्ध-धर्म बराबर उन्नति करता गया। मसीह की सातवीं शताब्दी में चीन का एक प्रसिद्ध यात्री ह्यन्थसांग आर्य्यावर्त में आया था। वह लिखता है कि दूसरे महाराज शालिदत्त ने इस देश में ६१० ई० से ६५० ई० तक शासन किया। उसके शासनकाल में वह यहां आया। उसकी विद्यमानता में एक बड़ा मेला हुआ, जिस में बहुत राजे महाराजे सम्मिलित हुए। यह मेला कनौज में हुआ जो उस समय की राजधानी था। देश के बीस राजे महाराजे इस में सम्मिलित थे। बुद्ध की मूर्त्ति बड़ी धूम धाम से निकाली गई। बसति की अपेक्षा से बौद्ध और आर्य्यों की संख्या एक समान थी। निदान, बौद्ध-धर्म कुछ काल में दूर २ तक फैल गया और आए दिन इसे दिन दुगुनी और रात चौगुनी उन्नति भाग्य में हुई॥

इस के इतनी जल्दी उन्नति पाने के विशेषतः ये कारण हैं:—

१—जीवन की पवित्रता लोगों को अपनी ओर खींच रही थी॥

२—प्रत्येक पुरुष को धर्म सीखने और श्रमण (बौद्ध संन्यासी) बनने की पूरी स्वतन्त्रता थी।

३—सब से भारी कारण यह था, कि राज्य का काम शूद्रों के हाथ चला गया था, कि जिन्हें ब्राह्मण बहुत छोटा समझते थे और वेदों के पढ़ने पढ़ाने का द्वार जिन पर वे सदा के लिये बन्द कर चुके थे। सो राजा चन्द्रगुप्त ने जो एक नाइन के पेट से था, इस धर्म की बहुत सहायता की और उस के पोते राजा अशोक ने इस धर्म को स्वीकार कर के इसे राज्य धर्म ठहराया॥

बौद्ध-धर्म की शिक्षा का प्रभाव

कई एक अन्वेषकों का निश्चय है, कि बुद्ध ने आर्य्यों के पवित्र धर्म के विरुद्ध अपना नया धर्म प्रचार करना नहीं चाहा। अपितु, उसका मनोगत उद्देश्य यह था कि असली धर्म को नए सिरे शुद्ध बनाया जाय। और जब उसने बौद्ध-धर्म्म का प्रचार आरम्भ किया, तो उसका विश्वास था, कि मैं आर्य्यों के पवित्र और असली धर्म का प्रचार कर रहा हूं। यही हेतु है, कि उसकी अपनी शिक्षा में वेदों के विरुद्ध कोई शब्द नहीं, अपितु, बौद्ध धर्म्म के बड़े बड़े सिद्धान्तों को देखने से प्रकट होता है कि वह आर्य्य-धर्म से निकला है। जैसे कर्मों का फल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त सर्वथा वेदों के सिद्धान्त हैं। उन का निर्वाण (मुक्ति) का सिद्धान्त भी आर्य्यों के इस सिद्धान्त के साथ मिलता है कि परब्रह्म परमेश्वर के साथ मेल हो जाय। उन की मुक्ति के

साधन योगशास्त्र के अनुसार हैं वे आर्य्यों के ब्रह्मा इन्द्र आदि देवताओं का मान करते हैं क्योंकि उनके विचार में देवता और मनुष्य निर्वाण की ओर जारहे हैं। निर्वाण कर्तव्य के पूर्ण करने से मिलता है। तौ भी उसकी शिक्षा ऐसी एक मुखी थी कि जिसके प्रभाव से लोग पीछे स्वाभाविक ही वेदों और ईश्वर से अलग हो गए। वेदों के पढ़ने पढ़ाने और ज्ञान काण्ड की ओर ध्यान देने का इस धर्म में नाम तक न था। कर्म काण्ड की शिक्षा का भी वहीं तक सम्बन्ध था, जहां तक स्वाभाविकतया आकर्षण प्रत्याकर्षण के नियमानुसार होना चाहिये। इस भारी परिवर्तन से आर्य्य-धर्म ने, जो न केवल आर्य्यावर्त्त का, अपितु सारी सृष्टि का धर्म था, निर्बल होना आरम्भ किया। इस के विरोध में वैदिक धर्म के नाम पर जो मत उत्पन्न हुए, वे भी वेदों के विरुद्ध ही रहे और इन सब ने वेदों के नाम को कलङ्कित करना आरम्भ किया॥

बौद्ध-धर्म का पतन

वेदों की उर्वरा-भूमि में ऐसे मत मतान्तरों का हरा भरा रहना असम्भव था। क्योंकि वेदों के गौरव को समझने वालों ने पहिले ही इस बात को प्रतिज्ञा के साथ कह रक्खा है, कि वेदों के विरुद्ध धर्म चाहे अन्धकार के समय में उत्पन्न होजाएं। पर वे सदा के लिये जीवित नहीं रह सकते। जैसा कि मनु भगवान् का वचन है—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।

सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

जो जो स्मृतियें और दर्शन वेद के विरुद्ध हैं, वे सब परलोक के लिये व्यर्थ हैं वे उत्पन्न होते हैं और मरजाते हैं। गिरे हुए समय के विचार होने से वे सब मिथ्या हैं और फल देने वाले नहीं ॥

मनु महाराज के इस कथन के अनुसार बहुत से मत मतान्तरों ने वेदों के विरोध में सिर उठाया, पर वे इस सार्व-भौम नियम के सामने अपने अस्तित्व को स्थिर न रख सके जैसा कि बौद्ध मत की शिक्षा के प्रभाव को रोकने के लिये स्वामि शंकराचार्य्य ने विशेष कर काम किया। इनके जीवन के इतिवृत्त इस पुस्तक में मिलेंगे। पर हम उचित समझते हैं कि उनकी जीवनी में जो ऐतिहासिकों का भेद है उसका यहां वर्णन करें ॥

जब शताब्दियों तक बौद्ध धर्म का प्रचार आर्य्यावर्त्त में रहा तो मूर्त्तिपूजा और वाम मत ने अपना सिक्का जमाया। और इस बौद्ध-मत की एक और शाखा जैन-मत उत्पन्न हो गया। दूसरे शालिदत्त के समय (६५० ई०) में यह पता मिलता है कि मूर्त्ति पूजा विद्यमान थी। मालूम होता है कि इस समय के पीछे बौद्ध-धर्म की नाईं जैनधर्म ने फैलना आरम्भ किया। और जिस समय स्वामि शंकराचार्य्य ने प्रचार का

काम आरम्भ किया उस समय बौद्ध धर्म बहुत ही अवनति पकड़ चुका था। जैन-धर्म अपनी वृद्धि में था। जैसा कि स्वामि शंकराचार्य्य के दिग्विजय में जो शास्त्रार्थ लिखे हैं वे बौद्धधर्म वालों से नहीं अपितु जैनधर्म वालों से ही उनका अधिकतर होना पाया जाता है॥

स्वामि शंकराचार्य्य के समय के विषय में बहुत कुछ भेद है। कई लोग उनका समय मसीह से पांच छः सौ वर्ष पहिले लिखते हैं। कई दोतीन सौवर्ष और कई मसीह से सात आठ सौ वर्ष पीछे बताते हैं। स्वामि शंकराचार्य्य का मसीह से पहिले होना किसी प्रकार ठीक नहीं। मसीह से पहिले तीसरी शताब्दी में राजा अशोक के हेतु बौद्ध-धर्म ने उन्नति पकड़ी और दूसरे शालिदत्तके समय ६५० ई० तक इस धर्म की उन्नति ऐतिहासिक रीति पर विदित होती है। शंकराचार्य्य के शास्त्रों में बौद्धधर्म और जैनमत का खण्डन पाया जाता है। जिससे सिद्ध होता है कि शंकराचार्य जैनमत के प्रचार के पीछे हुए।

(शंकराचार्य्य का समय)

शंकराचार्य्य की तिथि के विषय में किसी प्रकार के झगड़े की आवश्यकता नहीं। संस्कृत पुस्तकों और उनके अपने शिष्यों के लेखों से इस प्रश्न का निर्णय होजाता है। शंकराचार्य्य के सम्प्रदाय में उनकी उत्पत्ति के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है:—

निधि नागेभवन्ह्यब्दे, विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्याञ्च, शंकरार्य्योदयःस्मृतः॥

अर्थात् कलियुग के ३८८९ वर्ष में विभु नामवाले वर्ष में वैशाख शुक्ल दशमी को शंकराचार्य्य का उदय हुआ। इससे पाया जाता है कि जब शंकराचार्य्य उत्पन्न हुए, उस समय कलियुग के ३८८८ वर्ष बीत चुके थे। इस गणना से उस समय विक्रम सं० ८४५, शक सं० ७१०, सन् ७८८ई० था। इसी विषय पर शंकरमन्दारसौरभ में श्री कण्ठभट्ट ने भी लिखा है:—

प्रासूत तिष्यशरदा मभियातवत्या
मेकादशाधिक शतोन चतुः सहस्रयाम् ॥

ग्यारह कम चार हज़ार वर्ष कलियुग के बीत जाने पर (शंकराचार्य्य) का जन्म हुआ॥

शंकराचार्य का देश—शंकराचार्य्य के असल देश के विषय में थोड़ा मत भेद है। शिव रहस्य में उनकी संक्षिप्त जीवनी लिखी हुई मिलती है। इस पुस्तक के नवें अंश और सोलहवें अध्याय में उनके निवास का कशलनामी एक गांव वर्णन किया है और लिखा है कि यह गांव मालाबार देश में है। इस पुस्तक के और सारे इति-वृत्त हमारी जीवनी के साथ मिलते जुलते हैं।

शंकराचार्य्य का गुरु] इनके गुरु के नाम-विषयक लेखों में भी थोड़ा बहुत भेद पाया जाता है। कई ऐतिहासिक इन के गुरु का नाम गोविन्दनाथ लिखते हैं और दूसरे गौडाचार्य्य। पर इन दूसरे ऐतिहासिकों का कथन ठीक नहीं। शंकराचार्य्यने अपने भाष्यों के प्रत्येक प्रकरण की समाप्ति पर अपने गुरु का नाम गोविन्दाचार्य्य लिखा है। इसलिये ऐसे ऐतिहासिकों

की सम्मति जो इसके विरुद्ध है आदरणीय नहीं हो सकती। सत्य यह है कि शंकराचार्य्य के परम गुरु अर्थात् गुरु के गुरु का नाम गौड़ाचार्य्य है इन ऐतिहासिकों ने परम शब्द पर ध्यान दिया नहीं मालूम होता और गौड़ाचार्य्य ही को उनका गुरु ठहरा दिया है॥

कई ऐतिहासिकों ने कुमारिलभट्ट को भी शंकराचार्य्य का गुरु लिखा है। पर यह भी एक वैसी ही भ्रान्ति मालूम होती है। मन्तव्य की दृष्टि से कुमारिलभट्ट मीमांसिक थे, और शंकराचार्य्य वेदान्ती। इन दोनों की कृति विद्यमान हैं और अपने २ विषय की अपेक्षा से वे एक दूसरे से नहीं मिलतीं। शंकराचार्य्य के दिग्विजय से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे कुमारिलभट्ट को उस समय मिले, जब वे प्रायश्चित्त कर रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि कुमारिलभट्ट को शंकराचार्य्य के मिलने से प्रसन्नता हुई कि प्रायश्चित्त द्वारा अपने शरीर का त्याग कर देने के पीछे भी वेदों का एक सहायक उनके पीछे काम करनेवाला उन्हें मिला है। पर एक समय विशेष पर मिलने के पहिले कुमारिलभट्ट से शंकराचार्य्य का मिलना कहीं नहीं पाया जाता।

कई ऐतिहासिकों ने महामुनि पतञ्जलि को शंकराचार्य्य का गुरु ठहराया है। परन्तु यह लेख ऐसे लोगों का प्रतीत होता है जो उन्हें शिव का अवतार मानते थे और चाहते थे कि सन्मान के लिये बड़े २ मुनियों के नाम उनके नाम के साथ आ जाएं। अन्यथा इस विचार के विरुद्ध इतनी प्रचुर साक्षियें पाई जाती हैं कि इस प्रकार का विचार केवल

विचार ही रह जाता है। और इस में सत्यता का गन्ध तक नहीं रहता। ऐसे ऐतिहासिक गोविन्दाचार्य्य का मूल नाम महामुनि पतञ्जलि कथन करते हैं और लिखते हैं कि संन्यास आश्रम में दीक्षित होते समय इनका नाम गोविन्दाचार्य रक्खा गया था। माधवाचार्य कृत दिग्विजय के अध्याय ६ श्लोक १८ में लिखा है कि पतञ्जलि ने लोगों को केवल साधु शब्द बताए और शंकराचार्यने उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाया। फिर इसी पुस्तक के अ० ६ श्लोक ७६ में लिखा है: कि शंकराचार्य ने जिस विद्वत्ता के साथ भाष्य किया है उसने पतञ्जलि को भी लज्जित कर दिया। और फिर अ० ५ श्लोक ६६ में वर्णन किया है कि गोविन्दाचार्य ने पाताल में जाकर शेषनाग (अभि-प्राय पतञ्जलि से है) से महाभाष्य पढ़ा और पीछे उसका प्रचार किया। इत्यादि बातें पूर्वोक्त विचार का बड़े बल के साथ खण्डन करती हैं।

शंकराचार्य का सिद्धान्त] स्वामी शंकराचार्य के सिद्धान्त प्राचीन ऋषि मुनियों के सिद्धान्तोंके आधार पर हैं वे (१) वेदों को निर्भ्रान्त और स्वतः प्रमाण मानते थे (२) उनकी शिक्षा के सामने ऋषि मुनियों की जो सम्मति विरुद्ध हो उसे वे अप्र-माण मानते थे। (३) वेदों को वे सारी विद्याओं का भंडार वा कोष मानते थे। (४) वे शिक्षा देते थे, कि वेदों से ही परमा-त्मा की प्राप्ति का यथार्थ ज्ञान होता है (५) आत्मा का यथार्थ स्वरूप भी वेदों से ही जाना जाता है। वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव और सच्चिदानन्दस्वरूप है (६) जीवात्मा तब तक पुन-र्जन्म के चक्रमें फिरा करता है जब तक कि इसे पूरा २ ज्ञान

उपलब्ध नहीं होजाता (७) ज्ञान अन्तःकरण की पवित्रता से मिलता है (८) अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म और उपासना की आवश्यकता है (६) वे कर्म जो फल की कामनासे किये जाएं आवागवनके चक्रमें डालतेहैं (१०) पापके कारण मनुष्य पशु, पक्षी और स्थावर के जन्ममें जाताहै इत्यादि ।

पर इस सारी शिक्षा के होते हुए उन के एक सिद्धान्त का प्राचीनों के सिद्धान्त से एक भारी भेद है । और वह यह, कि शंकराचार्य मानते थे—जीव और ईश्वर में कोई भेद नहीं है, सब जीव ईश्वर ही हैं । और इस सिद्धान्तकी वे बराबर शिक्षा देते थे । उनके विश्वास में यह सारा जगत् मिथ्या है वस्तुतः इसकी कोई सत्ता नहीं । एक परमात्मा ही सत् स्वरूप है शेष सब वस्तुएं भ्रान्ति से प्रतीत होती हैं ।

कर्म, कर्ता, कर्मों का फल देने वाला और कर्मों का फल, उपास्य और उपासक, ये सब अलग २ हैं । पर परमार्थ में न कोई बद्ध है न मुक्त, न प्रलय न उत्पत्ति, न साध्य न साधक, न मुमुक्षु न मुक्ति । वस्तुतः एक चेतन ही तत्त्व है और कोई वस्तु नहीं ॥

आर्यावर्त के प्राचीन आचार्य्यों से पूर्वोक्त सिद्धान्त एक नया सिद्धान्त है । और इसको हम नया इसलिये लिखते हैं कि स्वामी शंकराचार्य्य के परम गुरु गौड़ाचार्य्य से पहिले बौद्धों के एक सम्प्रदाय के विना इसका कहीं पता नहीं मिलता ।

गौड़ाचार्य्य का सिद्धान्त] गौडाचार्य्य ने माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिकाएं लिखी हैं । इन कारिकाओं पर शंकराचार्य्य का भाष्य और इस भाष्य पर आनन्दगिरि की टीका

मिलती है। यह पुस्तक चार प्रकरणों में विभक्त है और इन प्रकरणों में वेदान्तके इस नए सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

पहिला प्रकरण आगम प्रकरण के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने अपने नए सिद्धान्तके अनुसार इस उपनिषद् पर भाष्य करते हुए बताया है कि आत्मा की चार अवस्था हैं (१) जाग्रत् (२) स्वप्न (३) सुपुप्ति (४) तुरीय।

जाग्रत् अवस्था में आत्मा का नाम विश्व है। इस अवस्था में आत्मा स्थूल जगत् के दृश्य को देखता है और इन्द्रियों के द्वारा स्थूल विषयों को भोगता है। स्वप्न में आत्मा का नाम तैजस है। इस अवस्था में वह बाह्य जगत् के दृश्य को नहीं देखता, किन्तु चित्र के सदृश इस सारे विश्व का संस्कार (चित्र) कि जिसे वह देखता है उसके मन के ऊपर वर्त्तमान रहता है। इस अवस्था में उस की बुद्धि अन्दर काम करती है। इस अवस्था में वासना रूपी बुद्धि इसका भोग होती है।

सुपुप्ति की अवस्था में इसका नाम प्राज्ञ है। इस अवस्था में न वह बाहिर और न ही भीतर पूर्वोक्त विश्व को देखता है किन्तु वह प्रज्ञानघन होता है और आनन्द को अनुभव करता है। यद्यपि इस में अविद्या शेष रहती है। और जिस अवस्था में पहुंच कर पूर्वोक्त तीनों भेद शेष नहीं रहते केवल अद्वैत ही शेष रह जाता है उस अवस्था का नाम तुरीय है। 'ओम्' शब्द के अर्थ इस प्रकरण में इस प्रकार किए गये हैं कि इस शब्द में (अ) अक्षर आत्मा की उस अवस्था को जितलाता है कि जिसका नाम विश्व है।(उ)

तैजस की अवस्था का प्रकाशक है और (म्) प्राज्ञ का। और अमात्र अर्थात् तीनों मात्राओं से जो परे है वह तुरीय है। इस लिये ओम् शब्द का जप करना मनुष्य के लिये आवश्यक है। ओम् अभय ब्रह्म का नाम है। जिसका मन ओम् में लगा रहता है उसको कभी डर और भय नहीं होता। जो ओम् को जान लेता है उसको भय और त्रास नहीं रहता और वह मुनि है॥

दूसरा प्रकरण वैतथ्य प्रकरण है। इस में यह वर्णन है, कि जिस प्रकार स्वप्न में जो कुछ दिखाई देता है सब मिथ्या है। इसी प्रकार ज्ञानी जन इस सारे विश्व को मिथ्या समझते हैं। क्योंकि इस जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है वस्तुतः यह कुछ भी नहीं। स्वप्न के पदार्थों की नाईं यह जगत् कल्पित है। इस विषय में यह एक और युक्ति दी गई है कि जो वस्तु पहिले विद्यमान न हो अन्त में न रहे वह अब भी नहीं है। यह जगत् पहिले नहीं था अन्त में नहीं रहेगा। इस लिये यह अब भी नहीं है। यथार्थ यह है कि पहिले आत्मा अपने आप को जीव कल्पना कर लेता है और फिर इस सारे विश्व को कल्पना कर लेता है। इस युक्ति को समझाने के लिये रस्सी आदि के दृष्टान्त दिये गए हैं। और फिर लिखा है कि यदि आत्मा अपने आप को जीव कल्पना न करे, तो मालूम करेगा कि यह सारा जगत् कल्पित है। वस्तुतः न उत्पत्ति है न प्रलय, न कोई बद्ध है न मुक्त, न साध्य है न साधक, न मुक्ति है न मुक्ति का चाहने वाला। चाहिये कि इन सारी भ्रान्तियों को दूर करके अद्वैत का मनन किया जाय। इस अद्वैत को लाभ करके मनुष्य जड़ की नाईं जगत् में विचरे, उसे कर्म और भक्ति, स्तुति और प्रार्थना आदि की कुछ आवश्यकता नहीं।

तीसरा प्रकरण अद्वैत प्रकरण है । इस में युक्तियों के साथ अद्वैतमत को सिद्ध किया गया है और यह वे ही युक्तियें हैं जो इस जीवनी में शास्त्रार्थों के सम्बन्ध में सविस्तर लिख दी हैं ॥

चौथा प्रकरण अलात शान्ति है । इस प्रकरण में सांख्य और न्याय आदि शास्त्रों में परस्पर का विरोध प्रकट किया गया है और इसी प्रकार बौद्धमत के झगड़े दिखाकर लिखा गया है कि अद्वैत मत ही एक सच्चा मत है । सारांश यह, कि गौड़ाचार्य्य और स्वामी शंकराचार्य्य के सिद्धान्त का निचोड़ यह है ॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है । जीव ब्रह्म ही है यह कोई दूसरी वस्तु नहीं ॥

नवीन वेदान्त का मत नया मत है। नवीन वेदान्त अथवा सब कुछ ब्रह्म ही है का सिद्धान्त एक नया सिद्धान्त है । नवीन वेदान्ती इस सिद्धान्त का मूल उपनिषद् बताते हैं । पर इन माननीय पुस्तकों में इस सिद्धान्त का वर्णन तक नहीं, प्रत्युत इसके विरुद्ध इन में जगह २ जीव और ब्रह्म का भेद बताया गया है । इनमें इस भेद को न ही कल्पित लिखा है और न ही इस को मिथ्या, अपितु जगत् का अस्तित्व इनमें स्पष्ट स्वीकार किया गया है । इसकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का इनमें स्पष्ट वर्णन है । इसके विना इन पवित्र पुस्तकों में बन्ध और मोक्षका वर्णन करके मोक्ष प्राप्तिके उपाय पूरे युक्ति युक्त रीति पर लिखे गए हैं और उपदेश किया गया है कि लोग इन उपायों का अनुष्ठान करके मोक्ष लाभ करें । आश्चर्य है कि गौड़ाचार्य्य और शङ्कराचार्य्य ने अपने इस नए सिद्धान्त का मूल उपनिषद् क्यों

ठहराए । इनके इस नये सिद्धान्त का मूल जो कुछ कि समझा जा सकता है, उसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे । इस जगह यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि नवीन वेदान्त के सिद्धान्त को एक नया सिद्धान्त केवल हम ही नहीं ठहराते, अपितु आर्य्यावर्त के प्राचीन आचार्य भी इस सिद्धान्त को नया और अनोखा सिद्धान्त ही प्रकट करते रहे हैं ।

(१) उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों पर बहुत ही पुराने भाष्य बौधायनाचार्य्य के हैं । उनमें इस नए सिद्धान्त का गन्ध तक नहीं पाया जाता । स्वामी शङ्कराचार्य्य ने अपने नए सिद्धान्त को पुष्टि देने की इच्छा से अपने भाष्य में इस भाष्य का जगह जगह खण्डन किया है ॥

(२) स्वामी शङ्कराचार्य्य के इस विषय पर जितने शास्त्रार्थ हुए उन सब में पाया जाता है कि उस समय के विद्वान् आप के इस सिद्धान्त को बराबर एक नया सिद्धान्त और मनघड़त ठहराते थे और बताते थे कि इनका यह विचार प्राचीन शास्त्रों और प्राचीनों के विरुद्ध है ॥

(३) शङ्कराचार्य्य के पीछे भी लोगों का यही ख्याल रहा । पुराणों में पद्मपुराण जो एक बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है उसके कर्त्ता ने उत्तर खण्ड अ० २६३ श्लो० ७० से ७५ में इस माया वादी मत का खण्डन किया है । जैसा कि लिखा है:—

मायावाद मसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्ध मेव च ।७०।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मण रूपिणा ।
अपार्थं श्रुति वाक्यानां दर्शयँल्लोक गर्हितम् ।७१।

कर्म स्वरूप त्याज्यत्वमत्र वै प्रतिपाद्यते ।
सर्वकर्मपरिभ्रष्टं वैधर्म्यत्वं तदुच्यते । ७२ ।
परेश जीवयोरैक्यं मया तु प्रतिपाद्यते ।
ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया ॥७३॥
सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे ।
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावाद मवैदिकम् ।७४।
मयैव रक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात् ।७५।

हे देवि ! माया वाद झूठा शास्त्र है वास्तव में यह छिपा हुआ बौद्धशास्त्र है । ७० । मैंने ही इस कलियुग में ब्राह्मण का रूप धारण करके इस शास्त्र को लिखा है । इसमें वेदों के झूठे अर्थ और ऐसे अर्थ वताए गये हैं कि जिनको लोग घृणा की दृष्टि से देखें ॥ ७१ । और इसमें कर्मों का त्याग करना बताया है और सब कर्मों से भ्रष्ट होकर वैधर्म्यपन बताया गया है । ७२। जीव और ईश्वर की एकता प्रकट की गई है और ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण बताया गया है । ७३ । हे देवि ! कलियुग में लोगों को धोका देने की नियत से वेदार्थ के नाम पर एक बड़ा शास्त्र जो मायावाद के कारण अवैदिक है मुझ से ही रक्षा किया जाता है ॥

(४) विज्ञान भिक्षु कि जिसने साङ्ख्य सूत्रों और वेदान्त सूत्रों पर भाष्य और योग भाष्य पर टीका लिखी है। उसने भी इस नए सिद्धान्त का आधुनिक वेदान्त अर्थात् नवीन वेदान्त लिखा है और बताया है कि वेदान्तके मायावाद आदि विचार पुराने विचार नहीं ॥

वेदान्त में इस नए मत की जड़ क्या है ? उपनिषत्कारों ने उपासना और ज्ञान की एक विशेष अवस्था बताई है कि जहां पहुंच कर मनुष्य सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म देखता है । पर इस से उनका यह अभिप्राय नहीं कि, यह सारा विश्व कल्पित है, अपितु ईश्वरभक्ति की एक विशेष अवस्था का वर्णन किया गया है और यह एक नैसर्गिक बात है । वैषयिक प्रेमके मार्ग में हमें बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें प्रेमी अपने प्रियतम के विना और कुछ नहीं देखता, मानो इस का वैषयिक प्रेम इस अवस्था तक पहुंच जाता है कि वह जिधर देखता है उसे अपना प्रियतम दृष्टि आता है। उपनिषत्कारों ने परमार्थ प्रीति वा ईश्वर भक्ति की भी एक ऐसी अवस्था बताई है । और सम्भावित है कि गौड़ाचार्य्य और शंकराचार्य जी भी उपनिषदों की शिक्षा की इस अवस्था पर पहुंच कर उनके मनोहर वर्णन और सत्यता में इतने मग्न हो गए हों कि सारे अगले पिछले सम्बन्ध का ध्यान न रखकर उन्होंने भी अद्वैत की शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया हो । यह उनके आत्मा की पवित्रता और अद्वैतता के प्रेम में मग्न होने का एक अनुपम दृष्टान्त है । और यदि ऐसी अवस्थामें उन्होंने "सर्वंखल्विदं ब्रह्म," के सिद्धान्त की शिक्षा दी तो कोई आक्षेप के योग्य नहीं; अपितु आदर के योग्य है । क्योंकि इस से उन महापुरुषों के ईश्वर प्रेम का भाव भली भान्ति प्रकट होता है । हमें भी ईश्वर प्रेम में इन्हीं अवस्थाओं को लंघन करना पड़ता है, और आगे भी प्रत्येक को लंघन करना पड़ेगा, कि जिन्हें लंघन करके स्वामि शंकराचार्य्य एक अमर शंकराचार्य्य हो गए हैं । हमारे समय में जिन अवस्थाओं को लंघन करके स्वामि दयानन्द

सरस्वती एक अमर दयानन्द सरस्वती हो गए हैं। इस लिये हमें स्वाभाविक उस स्रोत की ओर झुकना पड़ता है कि जिस ओर स्वामि शंकराचार्य्य झुके। और फिर इसी स्रोत से नवीन वेदान्त के इस नए विचार का पता लगानेमें ढूंढ करनी पड़ती है। इस अन्वेषण में हम प्रथम ही क्या पाते हैं? गुरु अपने शिष्य को वेदों की शिक्षा दे चुका है और शिष्य गुरुकुल से घर जाने को तय्यार है। उपनिषत्कार अपने शिष्य को बड़े मधुर वचनों से उपदेश करते हैं:—

यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥

हमारे जो साधुशील और शुभ आचरण हैं। बेटा! तुमने उन पर चलना दूसरों पर नहीं।

कैसा सुन्दर उपदेश है। यह उपदेश जहां हमें उपनिषत्कारों और उनके अनुयायियों का आदर करना सिखाता है, वह हमें पूरी स्वतन्त्रता देता है कि हम स्वयं भी इस अथाह समुद्र में डुबकी लगा कर उसके तत्त्व को देखें। अतएव जहां हम स्वामी शंकराचार्य्य और उनके परम गुरु का बड़ा आदर करते हैं, वहां हम बड़े विनय के साथ उनसे यह भेद भी रखते हैं कि उनके नवीन वेदान्त के सिद्धान्त का उपनिषदों में कहीं खोज नहीं मिलता। यजुर्वेद के ४०.वें अध्याय के मन्त्र ४ में लिखा है:—

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।

उस एक अद्वितीय परमात्मा की विद्यमानता में सूत्रात्मा क्रिया को धारण करता है। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि उस

परमात्मा की ही विद्यमानता के हेतु इस जड़ जगत् में क्रिया है। और इस में संदेह भी क्या हो सकता है ? अकेले जड़ में क्या क्रिया हो सकती है ? हां एक दूसरी शक्ति के बिना इस में किसी क्रिया का होना असम्भव है। वर्त्तमान समय का अंगरेज़ी विज्ञान भी इस बात का सहायक है और बताता है कि जड़ जगत् अपने आप कोई काम नहीं कर सकता। वह जड़ वस्तु को मैटर के नाम से पुकारता है और जिस शक्ति की सहायता से मैटर काम करता है उसे फ़ोर्स बताता है। सारांश यह, कि वेद स्पष्ट बताते हैं कि जड़ का आविर्भाव उसी शक्ति के कारण से है जिसके बिना वह एक क्रिया भी नहीं कर सकता। और उपनिषत्कार ने वेद के इस अभिप्राय को बड़े सौन्दर्य्य के साथ एक अलंकार में वर्णन किया है। अर्थात् कि (देखो केनोपनिषद् तीसरा खण्ड) ब्रह्म ने देवताओं के लिये विजय लाभ किया उसमें देवता महत्व को प्राप्त हुए। देवताओं ने समझा यह हमारा ही विजय और हमारी ही महिमा है ॥ १ ॥ ब्रह्म यह मालूम करके देवताओं पर प्रकट हुआ पर उन्होंने न समझा कि यह पूजा के योग्य कौन तत्व है ॥ २ ॥ उन्हों ने अग्नि को कहा मालूम कर यह कौन है ? (उसने कहा) बहुत अच्छा ॥ ३ ॥ वह ब्रह्म की ओर दौड़ा और वहां जाकर मात हो गया। और उसमें पूछने की कोई शक्ति न रही। ब्रह्मने उससे पूछा तू कौन है ? उसने कहा अग्नि वा जातवेदा ॥ ४ ॥ ब्रह्म ने उससे पूछा तुझ में क्या शक्ति है ? उत्तर दिया मैं सारे विश्व को जला सकता हूं ॥ ५ ॥ ब्रह्म ने अग्नि के सामने एक तिनका रख कर उसे कहा कि इसे जला। पर अग्नि अपनी सारी शक्ति के साथ उस तिनके में से धुवां भी न निकाल सका और

लज्जित होकर लौट आया और कहा क्या जाने यह कौन यक्ष है? ॥६॥ फिर देवताओंने वायु को कहा कि तुम जाकर मालूम करो यह कौन यक्ष है ॥७॥ वायु ब्रह्मकी ओर गया। ब्रह्मने पूछा तू कौन है? उत्तर दिया वायु वा मातरिश्वा ॥ ८ ॥ पूछा कि तुझ में क्या शक्ति है? उत्तर दिया कि इस सारे विश्व को उड़ा सकता हूं ॥ ९ ॥ ब्रह्म ने वही तिनका उस के सामने रक्खा और कहा कि इसे उड़ा। वायु ने अपना सारा बल लगाया पर वह इसको हिला भी न सका और लज्जित होकर वापिस हुआ और कहा, न जाने यह कौन यक्ष है ॥ १० ॥ तब देवताओं ने इन्द्र को वृत्तान्त जानने के लिये भेजा वह उसकी ओर गया तब ब्रह्म छिप गया। ११। परन्तु वह आकाश में खड़ा रहा और उस के पास एक रूपवती स्त्री उमा भूषण पहिने हुए आई और इन्द्र ने उस स्त्री से पूछा कि वह कौन है ॥ १२ ॥ उसने उत्तर दिया, ब्रह्म, कि जिसके विजय के हेतु तुम बड़े बने फिरते हो। १३। तब उसने समझा कि यह ब्रह्म है इत्यादि ॥

यह कोई ऐतिहासिक इतिवृत्त नहीं, अपितु इस बात के प्रकट करने को लिखा गया है कि परमेश्वर की इच्छा के बिना अग्नि में शक्ति नहीं कि जल सके, वायु में शक्ति नहीं कि एक तिनके को उड़ा सके। निस्संदेह मनुष्य इन पदार्थों की शक्ति को देख कर विस्मित हो जाता है। पर इन की यह सारी शक्तियें ब्रह्म की ही हैं। मानों जो विजयकि इन्हें इस जगत् में लब्ध है कि जिस के कारण से सब वस्तुएं इनके सामने झुकी हुई हैं यह विजय वस्तुतः उसी शक्ति के कारण है। हम भ्रान्ति से इन शक्तियों को जड़ वस्तुओं की शक्तियें

समझे हुए हैं अपितु इन सब का राजा इन्द्र (सूर्य्य) भी कि जिसकी शक्ति पर यह सब मान करते हैं इस परमशक्ति के सामने कोई वस्तु नहीं । निस्संदेह हम ब्रह्म-विद्या के बिना भी सौर जगत् के चलाने वाले का ध्यान कर सकते हैं । पर जब यह सुवर्णा उमा (ब्रह्मविद्या) अपने यौवन को सजा कर हमें दर्शन देती है तो ब्रह्म की महिमा बिजली की तरह चमकती है । सूर्य्य आदि आंखों की नाईं चुंधिया जाते हैं । तब पुरुष मालूम करता है कि इस सूर्य्य को प्रकाश देने वाला एक और सूर्य्य है जिस की शक्ति से यह प्रकाश दे रहा है और जिसकी महिमा से यह महिमा वाला बन रहा है । कठोपनिषद् में आया है:—

यतश्चोदेति सूर्य्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।

सूर्य्य जिस से उदय होता है और जिस में अस्त होता है सारे देवता उस में पिरोए हुए हैं कोई उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता । फिर लिखा है:—

भयादस्याग्नि स्तपति भयात्तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

उस के भय से अग्नि जलती है, उसके भय से सूर्य्य तपता है, उस के भय से बिजली चमकती है, वायु चलता है और मृत्यु दौड़ता है ।

अतएव सिद्ध हुआ कि वेद और उपनिषदों का यह

सिद्धान्त है कि सारा जड़ जगत् अपने आप कुछ नहीं कर सकता अपितु और शक्ति से शक्ति लाभ कर के अपना प्रकाश दिखा रहा है जैसा कि उपनिषद् में लिखा है :—

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व मिदं विभाति ॥

वहां न तो सूर्य्य चमकता है और न ये चन्द्र और तारे, न ही ये बिजलियें चमकती हैं; फिर इस बिचारी अग्नि का तो क्या कहना ? यह सब उसके प्रकाशने के पीछे प्रकाशित होता है, उस के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है ॥ अतएव ऐसी दशा में कोई वस्तु भी इसके बिना काम नहीं कर सकती । जिस प्रकार प्रत्येक आंख को देखने के लिये सूर्य्य की आवश्यकता है, इसी प्रकार प्रत्येक देवता को अपना प्रकाश दिखाने के लिये इस अदृश्य शक्ति की आवश्यकता है । इसीलिये तो भगवान् वेद ने कहा है :—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।

वही अग्नि, वही सूर्य्य, वही वायु और वही चन्द्र है । वही शुक्र वही ब्रह्म और वही प्रजापति है ॥ और यह इसी प्रेम में मग्न होकर कहा गया है कि जैसा एक और अवसर पर एक कवि ने कहा है "त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च-

सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव-देव" । तुमहीं माता हो, तुम ही पिता हो, तुम ही बन्धु हो, तुम ही सखा हो, तुम ही विद्या और तुमही धन हो, हे देव देव ! तुमही मेरे सब कुछ हो । एक हिन्दी कवि ने भी ऐसे ही अवसर के लिये क्या उत्तम कहा है:—

मात तुही गुरुतात तुही मित भ्रात तुही धन धान्य भंड़ारो
ईश तुही जगदीश तुही मम शीश तुही प्रभु राखन हारो ।
राव तुही उमराव तुही मनभाव तुही मम नयन को तारो ।
न्यार तुही कर्तार तुही घरवार तुही परिवार हमारो ॥

इस पर एक आशंका हो सकती है और वह यह है कि यदि सब कुछ परमात्मा की शक्ति से होता है तो हम अपने आप किसी कर्म के करने वाले नहीं हो सकते । जो कुछ हम करते हैं उसका भार उस शक्ति पर है जो हम से सब काम कराती है, इस लिये हम किसी शुभ वा अशुभ कर्म के उत्तर दाता नहीं । इसका उत्तर भी उपनिषत्कारों ने स्वयं युक्ति युक्त दिया है अर्थात् कि:—

सूर्य्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य-दोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक-दुःखेन बाह्यः ।

सूर्य्य यद्यपि सारे जगत् का नेत्र है पर वह नेत्र के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है इसी प्रकार वह सब भूतों का अन्तरात्मा जगत् के पाप से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह इस से अलग है ॥

अब प्रकट है कि जब मनुष्य परमेश्वर की भक्ति और प्रेम में धीरे २ आगे बढ़ता है तो वह एक अवस्था विशेष में पहुंच कर प्रत्येक वस्तु को परमात्मा के अन्दर और परमात्मा को प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहिर मालूम करता है। इस अवस्था में भगवान् वेद कहते हैं कि उसकी यह अवस्था होती है:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जब सब भूतों को आत्मा में और सब भूतों के अन्दर आत्मा को देखता है तब वह इससे मुंह नहीं फेरता है। पर वह इस प्रेम से भी आगे बढ़ता है और अन्ततः उस अवस्था में पहुंचता है कि परमात्मा के विना सब कुछ उस की दृष्टि से छिप जाता है। यद्यपि जगत् विद्यमान है पर उसके सामने उस का स्वरूप नास्ति के बराबर है क्योंकि उस का मन जगत् की ओर नहीं रहा और किसी इन्द्रिय की शक्ति नहीं कि मन की आज्ञा के विना वह किसी वस्तु को देख सके। ऐसी अवस्था में पहुंचे हुए मनुष्य के लिये भगवान् वेद का उपदेश है:—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

जिस अवस्था में विज्ञानी पुरुष के लिये सब कुछ आत्मा ही बन गया उस अवस्था में एकत्व के अनुभव करने वाले के लिये क्या मोह और क्या शोक? क्योंकि जहां पहिले उसे आगे

पीछे, दाएं बाएं, ऊपर नीचे सब जड़ ही जड़ दिखाई देता था अब उसे सब जगह चेतन ब्रह्म ही दिखाई देता है और वह उस के प्रेम में बोलता है:—

ब्रह्मैवेद ममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणत-श्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

यह अमृत ब्रह्म है, सामने ब्रह्म है,पीछे ब्रह्म है, दाएं ब्रह्म है,बांए ब्रह्म है, नीचे और ऊपर सब जगह ब्रह्म फैल रहा है। मानो यह सुन्दर विश्व ब्रह्म ही बन गया है। ऐसी अवस्था में इन्द्रियों की तृप्ति के लिये विषयों की आवश्यकता नहीं रहती। उत्तम से उत्तम रस और और बड़े से बड़े सुख उसे तुच्छ मालूम देते हैं। मानों उसके लिये सारे इन्द्रियों के रस उस परमात्मा में विद्यमान हैं और वह कहता है:—

एष सर्वगन्धः सर्वरसः सर्व कामः।

यह (परमेश्वर) सारे गन्धों वाला, सारे रसों वाला और सारी कामनाओं वाला है। यह सच है ऐसी अवस्था में उस के सामने जगत नहीं रहता, क्योंकि इन्द्रिय मन के अधीन हैं। जाग्रत अवस्था में उन की यह दशा है, कि जब मन किसी विचार में लगा हुआ हो,तो ये इन्द्रिय अपना काम नहीं करते, ऐसी अवस्था में कोई पुरुष उसके सामने से निकल जाय वह उस को नहीं देखता। भला जब परमेश्वर के प्रेम में मन लीन हो जाय तो फिर इन्द्रियों की क्या शक्ति है कि वे उसकी आज्ञा के बिना कोई काम कर सकें। ऐसी अवस्था में जीवात्मा न

केवल इस बाह्य जगत् को ही भूल जाता है किन्तु वह अपने आप को भी भूल जाता है। अतएव ऐसी अवस्था में उसे केवल ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई पड़ता है। क्योंकि अब उसका बाह्य जगत् के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रहा, पर जगत् का इस अवस्था में भी अभाव नहीं हो गया वह पहिले की नांईं विद्यमान है। इस में सन्देह नहीं हो सकता कि ऐसे पुरुष के पास कोई द्वार अब विद्यमान नहीं कि जिससे वह जगत् को देख सके। शास्त्र ने ऐसी ही अवस्था के लिये तो कहा है :—

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्,
केन कं शृणुयात्, केन कं जिघ्रेत् ॥

जिस अवस्थामें उसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किस से किस को देखे, किस से किस को सुने, और किस से किस को सूंघे ॥

प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः न बाह्यं
किञ्चन वेद नान्तरम् ॥

प्राज्ञ आत्मा से गले लगाया हुआ न कुछ बाहिर देखता है न भीतर (अर्थात् कि सब कुछ भूल जाता है)

उपनिषदों में चेतन की चार अवस्थाएं:—माण्डूक्य उपनिषद् में चेतन की चार अवस्थओं का वर्णन है। गौड़ाचार्य ने पहिले ही पहिल इस उपनिषद् पर अपनी कारिकाओं में इन अवस्थाओं को जीवात्मा पर घटा कर प्रकट किया है कि अद्वैत का सिद्धान्त ठीक है। जीवात्मा वास्तव में ब्रह्म है। ब्रह्म

भ्रान्ति से अपने आपको जीव मान लेता है। उनके विचार का निष्कर्ष हम उनके सिद्धान्तों में 'ओम्' की व्याख्या करते लिख आए हैं। जहां तक देखा जाता है हमें कोई ऐसी टीका वा भाष्य प्राचीनों का नहीं मिलता, जिस में ये मन्तव्य पाए जाएं। शङ्कराचार्य्य आदि ने बौधायन पर जो आक्षेप किये हैं उन से स्पष्ट पाया जाता है कि आप से पहिले ऋषि मुनि आपके इस नए मन्तव्य के विरुद्ध थे। और यही कारण है कि उन्हें बौधायन आदि के खण्डन की आवश्यकता जान पड़ी। और जिस रीति पर उन्होंने माण्डूक्य उपनिषद् से अपने नए मन्तव्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, यदि तनिक ध्यान देकर देखा जाए तो एक साधारण बुद्धि का पुरुष बिना किसी क्लेश के मालूम कर सकता है कि इस विषय में यह सारी खींचतान है।

ओम् एक ऐसा शब्द है कि जिसको प्रत्येक आर्य्य परमात्मा का निज नाम जानता है जिस तरह प्रत्येक मुसलमान जानता है कि अल्ला परमात्मा का निज नाम है। तब ओम् शब्द की व्याख्या करते हुए मात्राओं को जीवात्मा पर घटाने का प्रयत्न करना क्या स्पष्ट प्रकट नहीं करता, कि उस प्रकरणको कि जिस में परमात्मा का वर्णन है आत्मा पर घटाने का साक्षात् प्रयत्न किया जाता है।

शङ्कराचार्य्य के पवित्र जीवन का प्रभाव अन्ततः यह हुआ कि आप का यह नया मन्तव्य एक नया मन्तव्य होने पर भी धीरे २ देश में फैल गया। और आज संन्यासियों और गृहस्थों का एक बड़ा भारी हिस्सा इस मन्तव्य के पक्ष में है। इस बात का निर्णय करने के लिये कि माण्डूक्य उपनिषद् में चेतन की जो चार अवस्थाएं वर्णन की गई हैं उन का सम्बन्ध जीवात्मा

से है वा परमात्मा से, हमें प्राचीन ऋषियों और मुनियों की नांई स्वभावतः वेदों की ओर झुकना पड़ता है क्योंकि प्राचीनों की नांई हमारा विश्वास है कि उपनिषत्कारोंने कोई बात वेदके विरुद्ध नहीं कही, सो इस बात के निर्णय के लिये वेद ही पूर्ण साक्षी हो सकते हैं। जैसा हम पाते हैं कि परमात्मा की प्रथम अवस्था को ऋग्वेद मण्डल १० और सूक्त नव्वे में वर्णन किया गया है। इस सूक्तमें पुरुषका वर्णन है अर्थात् यह सारा ब्रह्माण्ड परमात्मा का शरीर है और वह इस शरीर का आत्मा है। इस सारे ब्रह्माण्ड को चलाने वाला और नियम में रखने वाला केवल एक परमात्मा है जो आत्मा की जगह इसमें काम करता है। अतएव वह उस से इस प्रकार अलग है जिस प्रकार शरीर से जीवात्मा और जिस तरह जीवात्मा और शरीर एक नहीं उसी तरह यह ब्रह्माण्ड और परमेश्वर एक नहीं। हां जिस प्रकार मनुष्यका वर्णन करते हुए किसी जगह केवल जीवात्माका वर्णन होता है और किसी जगह शरीर और किसी जगह दोनों का, इसी प्रकार इस सूक्त में किसी जगह तो परमात्मा का अलग वर्णन है किसी जगह उसके शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड का है और किसी जगह इन दोनों का। इस सूक्त में उस अवस्था का वर्णन है कि जब मनुष्य पहिले ही पहिले इस ब्रह्माण्ड के अन्दर उस के दर्शन करता है।

वह पुरुष असंख्यात सिरों, आंखों, और पाओं वाला है वह इस ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेर करके आप फिर भी उस से दशांगुल परे है॥ मन्त्र १

यह सब कुछ जो हुआ और होगा पुरुष ही है। यह पुरुष अमृत का मालिक है जो (अमृत) अनाज से उत्पन्न होता है

भ्रा उसका भी मालिक है जो अनाज से उत्पन्न होता है । २ ।
(जिस लिये इस सूक्तमें ब्रह्माण्डको परमेश्वरका शरीर ठहराया है इसीलिये यह लिखा है जो हुआ और होगा वह पुरुष ही है)

यह सब उसकी महिमा है । पुरुष इस से (अर्थात् इस महिमा से जो हमें दृष्टि आ रही है) बहुत बड़ा है । यह सारा ब्रह्माण्ड उस का एक पाद है और उस के तीन अविनाशी पाद अपने प्रकाश में हैं । ३ । (अभिप्राय यह है कि इस ब्रह्माण्ड को देखकर मनुष्य उसके महत्व को बहुत कुछ समझ सकता है, परन्तु परमेश्वर के स्वरूप का यह ज्ञान बहुत थोड़ा है क्यों कि उसका स्वरूप इस से बहुत बहुत बढ़ कर है) ।

यह तीन पाद वाला पुरुष उससे अलग प्रकाशमान हुआ । उस का चौथा पाद यहां हुआ । उस पाद से उसने प्राणी और अप्राणी को व्याप्त किया ॥ ४ ॥

उस एक पाओं से विराट् (समष्टि ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ विराट् से वह पुरुष प्रकट हुआ और प्रकट होकर ब्रह्माण्ड के वार पार फैल गया ॥५॥ (अभिप्राय यह है कि परमेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया और इसके द्वारा उसका हम पर प्रकाश हुआ) ।

देवताओं ने जब पुरुष रूपी हवि के साथ (अर्थात् विराट् के साथ) यज्ञ को रचा तो वसन्त इस यज्ञ का घी हुआ, ग्रीष्म (गरमी) इन्धन और शरत् (आश्विन कार्तिक) हवि ॥ ६ ॥

आरम्भ में उत्पन्न हुए यज्ञ के साधन उस पुरुष (विराट्) को आकाश में सेवन किया और इस से साध्य देवता और ऋषियों ने अर्थात् प्राण और किरणों ने यज्ञ किया ॥ ७ ॥
(अर्थात् ब्रह्माण्ड के उत्पन्न होने के पीछे सूर्य्य आदि प्राकृत

देवताओं से यज्ञ रचा गया, जिस के द्वारा पीछे के भूत अर्थात् पशु मनुष्य आदि और देव प्रकट हुए) ॥

उस यज्ञ से कि जिस में सब ने हवन किया, दही और घी उत्पन्न हुआ। और उन पशुओं को उत्पन्न किया जो वायु के आश्रय हैं और जंगल और बस्ति में रहने वाले हैं ॥ ८ ॥

उस यज्ञ से कि जिसमें सबने हवन किया, ऋचा (पादबद्ध मन्त्र) साम (गान के मन्त्र) उत्पन्न हुए और उस से छन्द उत्पन्न हुए और उस से यजुः (गद्यात्मक मन्त्र) उत्पन्न हुए ॥९॥

उस से घोड़े और दोनों ओर के दांतों वाले उत्पन्न हुए। उस से गौएं उत्पन्न हुईं और उससे भेड़ बकरी उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

(इन मन्त्रों में उत्पत्ति क्रम वर्णन करने का अभिप्राय नहीं किन्तु प्राकृत यज्ञ के द्वारा पहिले उन पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन है जो यज्ञ के लिये आवश्यक हैं और फिर मनुष्य के उपयोगी वस्तुओं का वर्णन है)।

जब विराट् पुरुष को विभक्त किया गया तो कितने प्रकार से उसकी कल्पना की गई ? कोन उसका मुख ठहराया गया ? कौन भुजा ? कौन ऊरू ? और कौन पाओं ? ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उसका मुख है, क्षत्रिय भुजा, वैश्य ऊरू और शूद्र पाओं ॥ १२ ॥

मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ, नेत्रसे सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र (विजली) और अग्नि और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ॥१३॥

उस की नाभि से अन्तरिक्ष हुआ, सिर से द्यौ निकला, पाओं से भूमि और कान से दिशा इस प्रकार लोकों को कल्पना

किया ॥१४॥ (पहिले जिस प्रकार मनुष्यों के विभाग में विराट् को कल्पना किया है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के विभाग में भी कल्पना किया है, अर्थात् उसका मन चन्द्र है और नेत्र सूर्य इत्यादि) ॥

इस प्रकार जब मनुष्य परमात्मा की उपासना करते हुए इस ब्रह्माण्ड में उसका दर्शन करता है और इसमें उसकी अनंत शक्ति को अनुभव करता है, तो स्वभावतः उस का ध्यान इस ब्रह्माण्ड के परे जाता है और फिर उपासना के द्वारा वह इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति देखता है और उस में भी वह परमात्मा की अद्भुत शक्ति को काम करते हुए देखकर आश्चर्य हो जाता है।यह उपासना की दूसरी भूमि है। पहिली भूमिमें यह ब्रह्माण्ड परमात्मा का शरीरस्थानी है और दूसरी में भी इसी प्रकार। पहिली अवस्था को परमात्मा का स्थूल शरीर कहेंगे और दूसरी को सूक्ष्म। इसी अवस्था का नाम उपनिषद् में स्वप्न की अवस्था लिखा है। ऋग्वेद के मं० १०सू० १२१ में इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार है :--

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें ? उस हिरण्य गर्भ (तेज जिसके अन्दर है) की. जो आरम्भ में विद्यमान हुआ और प्रकट होते ही सारे भूतों का एक पति था और जिस ने इस पृथिवी और द्यौ को धारण किया है। मन्त्र १

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें ? जो जीवन का और शक्ति और बल का देने वाला है, सारी सृष्टि जिसकी आज्ञा मानती है, हां देवता भी जिसकी आज्ञा मानते हैं। जिस की छाया अमृत है और मृत्यु जिसका (अधीन) है। २।

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें ? जो अपने महत्व से सांस लेते हुए (प्राणी) और सोते हुए (अप्राणी)

जगत् का एक केवल एकही अधिपति है और जो द्विपात् चतुष्पात् पर ईशन करता है। ३।

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें? ये बर्फ़ानी पहाड़ जिस का महत्व हैं और मीठी नदियों के साथ समुद्र जिसका महत्व है,ऐसा कहते हैं। ये सारे प्रदेश (नक्षत्र आदि) जिस के हैं, जिसके दोनों बाहू हैं (अर्थात् सारी शक्ति जिस की है) ॥ ४ ॥

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें? जिस से द्यौ दृढ़ और प्रकाशमान है और पृथिवी जिससे स्थिरहै, जिस ने आकाश को अपनी जगह पर स्थिर किया हुआ है, जिसने नाक (सूर्य्य) को स्थिर किया हुआ है। (नाक वस्तुतः प्रकाश के प्रभव का नाम है) जो अन्तरिक्ष में फैले हुए वायु का मापने वाला है ॥५॥

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें? (जिसकी) रक्षा से दृढ़ किये हुए द्यौ और पृथिवी मन से कांपते हुए जिसकी ओर देखते हैं। जिसमें सूर्य्य उदय हुआ२ चमकता है॥६॥

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें? जब महत् तत्व ब्रह्माण्ड को गर्भ में लिये हुए और अग्नि को उत्पन्न करते हुए प्रकट हुआ तब सारे देवताओं का एक जीवन (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुआ (उसकी) ॥ ७ ॥

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें? जिसने अपने महत्व से उस महत्तत्त्व को देखा कि जिसमें उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान थी और जो यज्ञ को उत्पन्न कर रहा था (और) जो देवताओं में एक देव है ॥ ८ ॥

हम किस देवता की हवि के साथ पूजा करें? जो पृथिवी

को उत्पन्न करने वाला है और जिस अटल नियमों वाले ने द्यौ को उत्पन्न किया है, जिसने चमकते हुए महत् तत्त्व को उत्पन्न किया है। वह हमें क्लेश न दे ॥ ९ ॥

हे प्रजापते! तेरे विना और कोई इस सृष्टि का स्वामी नहीं है? जिस कामना से हम तेरे लिये हवन करते हैं (वा तुझे बुलाते हैं) वह हमारी कामना पूर्ण हो, हम ऐश्वर्य के स्वामी हों ॥ १० ॥

जब मनुष्य परमात्मा को इस अवस्था में काम करते हुए देखता है कि जिस का वर्णन ऊपर किया गया है तो वह और आगे बढ़ता है और इस सारे ब्रह्माण्ड को प्रलय की अवस्था में देखता है अर्थात् उस अवस्था में कि जब इस में कोई क्रिया नहीं होती और न ही इसका कोई प्रादुर्भाव होता है। इस अवस्था में भी वह परमात्मा के हाथ को इस सारे प्रबन्ध में पाता है। उपनिषद् में इस अवस्था को सुषुप्ति की अवस्था वर्णन किया है और ऋग्वेद के मण्डल १० के सूक्त १२९ में इस अवस्था का इस प्रकार वर्णन है :—

उस समय न तो सत् था और न असत्, न रज (अन्तरिक्ष) था और न ही आकाश था। जो परे है, (अर्थात् अन्तरिक्ष के परे है) फिर इस जगत् को कौन घेरता? कहां घेरता? और किस के आश्रय घेरता? गहन गम्भीर जल तो क्या। अर्थात् प्रकृति भी द्रवावस्था में न थी) ॥ १ ॥

उस समय न मृत्यु था, न अमृत। दिन और रात का कोई चिन्ह न था। केवल वह एक तत्व विना सांस लेने के प्रकृति के साथ जीवित था, उस के विना और कुछ भी न था ॥२॥

(उत्पत्ति से) पहले अन्धेरे से ढपा हुआ अन्धेरा था, यह सारा जगत् अलिङ्ग अवस्था में एक-रस पड़ा था । यह जो कुछ फैला हुआ है, उस समय तुच्छ से ढपा हुआ था (फिर) तप (अर्थात् जगत् के उत्पन्न करने वाले संकल्प) की बड़ी शक्ति के साथ वह एक (अर्थात् जो तुच्छ से ढपा हुआ था) प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

तब आरम्भमें इच्छा उत्पन्न हुई, वह इच्छा जो (जगत् के) चित्र या रचना का पहिला बीज थी । उन बुद्धिमानों ने कि जिन्होंने गहरे विचार के साथ ढूंढ की, मालूम किया कि सत् का असत् से सम्बन्ध है ॥ ४ ॥

एक टेढ़ी रेखा खींची गई । फिर इस (रेखा) के ऊपर क्या था और नीचे क्या था? बीज के धारण करने वाले (संस्कार जिन में विद्यमान था अर्थात् आत्मा) और बड़ी बड़ी शक्तियें थीं । वरे माया थी और परे शक्ति (परमात्मा) ॥ ५ ॥

कौन निश्चित जानता है और कौन वर्णन कर सकता है कि यह जगत् कहां से आया और किस प्रकार इस की विविध रचना हुई ? क्योंकि देवता इस रचना के पीछे के हैं । फिर कौन कह सकता है कि यह जगत् कहां से आ विद्यमान हुआ?॥६॥(अर्थात् यह कोई नहीं जानता कि उत्पत्ति से पूर्व सूर्य आदि लोकों के सूक्ष्म अवयव किस स्थान में थे) ॥

यह सृष्टि कहां से आ विद्यमान हुई ? क्या उसने सारी की सारी (माया) को रच दिया है या नहीं ? हे प्यारे ! परम आकाश में जो इसका अध्यक्ष है वह इस (रहस्य) को जानता है चाहे नहीं जानता ॥ ७ ॥ (अर्थात् परमेश्वर ही इस बात को जानता है और कोई नहीं जानता,इस अभिप्राय को प्रकट करने

के लिये संस्कृत की यह शैली है कि वह जानता है चाहे नहीं जानता)।

फिर वह परमार्थदर्शी और आगे बढ़ता है और यह उसकी उपासना की चौथी और अन्तिम अवस्था है। पहिली तीन अवस्थाओं में उसने आत्मा को स्थूल और सूक्ष्म जगत् में और फिर जगदुत्पत्ति से पूर्व अवस्था में (प्रकृति में) अपनी अनन्त शक्ति से काम करते हुए देखा था। अब इस अवस्था में प्रकृति के सम्बन्ध को छोड़ कर केवल परमात्मा का दर्शन करता है। यह वह अवस्था है कि जिस में जीवात्मा न केवल प्रकृति को अत्यन्त भूल जाता है, किन्तु परमात्मा के प्रेम और आनन्द में अपने आप को भी भूल जाता है। इस अवस्था का नाम उपनिषद् में तुरीय अर्थात् चौथी अवस्था लिखा है। इस अवस्था का वर्णन वेदों के भिन्न २ स्थलों में पाया जाता है। जैसा कि यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के ७ वें मन्त्र में जीवात्मा की इस अवस्था का इस प्रकार वर्णन है:—

जिस अवस्था में विज्ञानी के लिये सब वस्तु आत्मा ही बन गई, उस अवस्था में आत्मा का दर्शन करनेवाले के लिये क्या मोह और क्या शोक है ? अर्थात् उस अवस्था में जीवात्मा को न किसी से राग द्वेष होता है, न अविद्या का लेश रहता है।

जगत् के वास्तव स्वरूप पर स्वामि शंकराचार्य्य की सम्मति भक्ति वा उपासना की चौथी अवस्था में जब मनुष्य जगत् को भूल जाता है तो हम कह सकते हैं कि उसके लिये जगत् नहीं है। सो ऐसाही योग दर्शन समाधि प्रकरण में स्पष्टता से लिखा है, पर इस से यह परिणाम निकालना

भ्रान्ति है कि वास्तव में जगत् का स्वरूप ही नहीं अथवा यह कि स्वप्न की नांई जगत् एक कल्पित वस्तु है। और हम पाते हैं कि अन्ततः स्वामी शंकराचार्य्य ने भी इस सचाई को अनुभव किया। जैसा कि बौद्धमत का खण्डन करते हुए वेदान्त दर्शन अध्याय २ पाद २ सूत्र २९ के भाष्य में उन्होंने जगत् के वस्तु भूत स्वरूप पर इसप्रकार विचार किया है:—

"बाह्य जगत् को कल्पित मानने वाले ने जो यह बात कही है कि स्वप्न के ज्ञान की नांई बाह्य वस्तु के बिना ही स्थाणु आदि वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है क्योंकि इन दोनों की प्रतीति में कोई भेद नहीं' इसका उत्तर हम यह देते हैं कि स्वप्न आदि के ज्ञान की नांई जाग्रत का ज्ञान नहीं माना जा सकता। क्यों? वैधर्म्य होने के कारणसे। स्वप्न और जाग्रत् में वैधर्म्य है। वह वैधर्म्य क्या है? बाधा (झूठा मालूम देना) और अबाधा (झूठा मालूम न देना) अर्थात् स्वप्न के पदार्थ तो जागने पर बाधित वा यह कि झूठे प्रतीत होते हैं कि मैंने मिथ्या ही महा पुरुषों की संगति की, वास्तव में कोई ऐसी संगति नहीं हुई। मेरा मन निद्रा के दबाव में था इस लिये ऐसी भ्रान्ति हुई। इसी प्रकार इन्द्रजाल आदि में भी अपने २ अवसरों पर बाधा (ज्ञान का झूठा सिद्ध होना) देखी जाती है। पर जाग्रत् की अवस्था में किसी प्रकार भी स्थाणु आदि का ज्ञान बाधित नहीं होता। अतएव जाग्रत का ज्ञान स्वप्न के सदृश नहीं। किञ्च स्वप्न का ज्ञान एक स्मृति है। मानों स्वप्न एक प्रकार का स्मरण है। पर जाग्रत् में किसी वस्तु को देखना अनुभव करना है। स्मृति और अनुभव में जो भेद है वह प्रसिद्ध है। (जिसका हम स्मरण करते हैं) उससे हम

वियुक्त होते हैं और जो अनुभव करते हैं उसके पास । जैसे मनुष्य कहता है कि मैं अपने प्यारे बेटे का स्मरण कर रहा हूं, पर मुझे दिखाई नहीं देता, देखना चाहता हूं । ऐसी दशा में तुम यह नहीं कह सकते कि प्रतीति होने के कारण स्वप्न की प्रतीति की नाईं जाग्रत् की प्रतीति भी मिथ्या है क्योंकि तुम इन दोनों प्रतीतियों में भेद अनुभव करते हो । बुद्धिमान् उस से इनकार नहीं करता कि जिसको वह अनुभव करता है । किन्तु तुम स्वयं कहते हो कि जाग्रत् में पदार्थ अनुभव होते हैं इसीलिये तुम जाग्रत् की प्रतीतियों को मिथ्या ठहराने की शक्ति न रखकर उन्हें स्वप्न की प्रतीतियों का दृष्टान्त देकर मिथ्या ठहराते हो । पर याद रक्खो कि जो जिसका धर्म नहीं वह दूसरे की उपमा से उस धर्मको स्वीकार नहीं कर सकता । कभी भी उष्ण अनुभव किया हुआ अग्नि, पानी के साधर्म्य से ठण्डा नहीं हो सकता । क्योंकि इन दोनों में धर्म का भेद है । इसी प्रकार स्वप्न और जाग्रत् का भेद दिखा दिया है" । यह युक्ति स्वामी शंकराचार्य्य की है और इस से स्पष्ट पाया जाता है कि वे भी एक समय में जगत् को मिथ्या मानने वालों को प्रबल युक्तियों से खण्डन करते थे ।

स्वामी शंकराचार्य्य का वंश और उत्पत्ति ।

दक्षिण देश के मालाबार प्रान्त में पूर्णा नदी के किनारे वृष नामी एक पहाड़ी पर कालटी नामी एक गाओं था । यह गाओं ब्राह्मणों का गाओं था और इसमें इन्हीं की विशेष करके

वस्ति थी । इस जगह के निवासियों ने देश के दूसरे भागों की नाईं विद्याध्ययन का त्याग नहीं कर छोड़ा था । किन्तु इन में देश के दूसरे भागों की अपेक्षा विद्याध्ययन में अधिक रुचि थी । और जिस प्रकार आज कल दक्षिण में वेदों के पढ़ने पढ़ाने की सम्प्रदाय विद्यमान है, इसी प्रकार उस समय में इस गाओं में संस्कृत की पाठशालाएं थीं ।

उस समय में कि जिसका वर्णन हम कर रहे हैं, कालटी गाओं में एक बड़ा विद्वान् पण्डित रहता था और उसने अपनी योग्यता के हेतु विद्याधिराज का पद लाभ किया था । उसके यहां एक लड़का जन्मा, जिस का नाम माता पिता ने शिवगुरु रक्खा । पुरानी रीति के अनुसार लड़के का पालन पोषण किया गया । जब लड़का कुछ बोलने लगा तो उसकी माता ने उसे विनय की शिक्षा देनी आरम्भ की और उस लड़के के माता पिता तब तक अपने कर्तव्य को बराबर पूरा करते रहे जब तक कि उस लड़के को गुरुकुल में भेजने का समय न आ गया । तदनन्तर विद्याधिराज ने ठीक समय पर अपने लड़के को गुरुकुल में भेज दिया । शिवगुरु अत्रि गोत्र के एक विद्यावान् और धार्मिक ब्राह्मणका लड़का था । विद्याध्ययन में रुचि, माता पिता ने पहले ही उस में उत्पन्न कर दी थी । इसलिये गुरुकुल में जाकर इस लड़के ने बड़ी रुचि, श्रद्धा और सेवा के साथ विद्या पढ़नी आरम्भ की और दूसरे शास्त्रों के पढ़ने के साथ अपनी कुल मर्यादा के अनुसार उस ने अपनी तैत्तिरीय शाखा को पढ़ा और मीमांसा को देखा ।

जब यह लड़का अपना ब्रह्मचर्य्य पूरा कर चुका, तो उसके गुरुने बड़े प्रेमके साथ उसको बुला कर कहा, "बेटा ! अब

तू विद्याध्ययन कर चुका है, गुरुकुल में प्रविष्ट हुए तुझे समय हो चुका है। अब तुम्हारे माता पिता के स्नेह का प्रवाह तुम्हारे मिलने के लिये वेग से वह रहा होगा। अपने घर को जा और अपने माता पिता को मिलकर उनका कलेजा ठण्डा कर। इस समय तेरे दूसरे बन्धु भी तुझे मिलने के अभिलाषी होंगे। शावाश!' जिस भक्ति, प्रेम और योग्यता के साथ तुमने ब्रह्मचर्य्य आश्रम को पूरा किया, आशा है इसी प्रकार तुम गृहाश्रम में प्रवेश कर के उसके धर्म पालन करोगे। यद्यपि मुझे तुम से इतनी प्रीति है कि अलग होने को जी नहीं चाहता, पर मैं देखता हूं कि अब तुम्हारे गृहस्थ का समय है। जिस प्रकार समय पर लगाया हुआ वृक्ष फल लाता है, इसी प्रकार गृहस्थ भी अपने समय पर किया हुआ सफल होता है। जा, गृहस्थ आश्रम में निवास कर, कि जिसके लिये तूने पूरी तय्यरी कर ली है। पर स्मरण रख, कि उस आश्रम में विद्यादान से कभी प्रमाद न करना और अपनी धर्म पत्नी के साथ धर्मकार्य करते हुए स्वर्ग के भागी बनना"।

गुरु के सारे उपदेश को सुन कर शिवगुरु ने बड़ी नम्रता के साथ हाथ जोड़ कर कहा। महाराज! आप की आज्ञा सत्य है, पर यह कोई नियम नहीं कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पीछे अवश्य ही गृहाश्रम में प्रवेश किया जाय, और कोई किसी दूसरे आश्रम में प्रविष्ट न होने पाए। ब्रह्मचर्य्य आश्रम एक राज मार्ग है, जिस पुरुष में आत्मा और अनात्मा का विवेक है और वह वैराग्य को लाभ कर चुका है, तो वह संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकता है। पर मैं तो न गृहाश्रम में प्रविष्ट होना चाहता हूं और न ही संन्यास आश्रम के दुस्तर मार्ग पर पाओं रखने की

इच्छा रखता हूं. मेरी अन्तरीय इच्छा है कि मेरा सारा आयु ब्रह्मचर्य आश्रम ही में आपकी सेवा में समाप्त हो। इस प्रकार जगत् के बन्धनों से अलग रह कर मैं अपने आत्मा की शान्ति को स्थिर रख सकूंगा। गृहाश्रम की आवश्यकताएं मुझे दूसरी ओर लगा देंगी और विद्यालाभ की रुचि को कम कर देंगी। आप के पितृस्नेह और शुभचिन्तना ने मुझे अन्धेरे से निकाल विद्या का मीठा २ रस पीने की ओर लगा दिया है। आप की सेवा को छोड़ गृहाश्रम में इससे क्या अधिक लाभ उठा सकता हूं। आप से यह बात छिपी नहीं, कि कंगाल गृहस्थ नारकी जीव के बराबर है। उस में न गृहस्थ भोगने की शक्ति है न दान देने की शक्ति। यदि गृहस्थ धनी है तो वह सन्ताप को परे फेंक कर लालच के मारे इधर उधर भटकता है। उस की आवश्यताएं कभी पूरी नहीं होतीं। और वह इन्हीं के पूरा करने के ध्यान में लगा रहता है। एक आवश्यकता को पूरा कर लेता है तो दूसरी आ सामने विद्यमान होती है दूसरी आवश्यकता पूरी हुई तो तीसरे के पूरा करने का ख्याल आ विद्यमान होता है। निदान इसी प्रकार एक धनवान् गृहस्थ अपने जीवन को पूरा करता है जो मेरे निकट एक निर्धन गृहस्थ के जीवन से तनिक भी बढ़ कर नहीं॥

शिष्य के इस उत्तर को सुनकर गुरु ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। मन में विचार किया कि इस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य्य पूरा हो चुका है। आशा है कि घर से बन्धु इसके लेने के लिये आएंगे और उस समय इस को उन के साथ कर दिया जाएगा।

इसी अवसर में शिवगुरु का पिता गुरुदक्षिणा लिये अपने बेटे का समावर्तन करके उसे घर लाने के लिये गुरुकुल

में पहुंचा। गुरु को प्रणाम कर के उस ने ब्रह्मचारी लड़के को गले लगा अपने कलेजे को ठंडा किया। बेटा अपने ब्रह्मचर्य्य के पूरे वेष में था। मृगछाला और मेखला पहने हुए बाप के गले लग रहा था। और बता रहा था,इन वस्तुओं ने मुझे धर्म और विद्या के मार्ग पर चलने के लिये दृढ़ बना दिया है। दोनों ओर से एक दूसरे को मिल कर इतनी प्रसन्नता हुई, कि चिर काल तक पिता पुत्र एक दूसरे के गले लगे रहे। दोनों ओर से आनन्द के आंसू वह रहे थे। और किसी को यह शक्ति न थी, कि कुछ बोल सके। पिता देखता था कि तपश्चर्या के कारण लड़का यद्यपि कुछ दुर्बल है पर इस में एक ऐसा दृढ़ मन है जिस को अब पापके बाण अपना लक्ष्य नहीं बना सकते। और स्तुति निन्दा वा हानि लाभ इसमें कोई हर्ष शोक उत्पन्न नहीं करसकते। लड़के के पाओं यद्यपि नंगे हैं, पर ऐसे दृढ़, कि समय की सरदी गरमी उसे अपने काम से पीछे नहीं हटा सकती। लड़के के चेहरे पर ऐसा तेज बरसता है जो धार्मिक और तपस्वी लोगों के चेहरे पर दिखाई दिया करता है। ऐसी अवस्था में जब पिता पुत्र एक दूसरे को मिलें, तो कब सम्भव है कि मारे आनन्द के चिरकाल तक दोनों की जिह्वा बन्द न हो जाए और वे प्रेम के रस में मग्न हो बोलने से पहिले मन भरकर उसे पीकर अपने हृदय को तृप्त न कर लेवें। कोई उदाहरण नहीं, जिस से इस सारे आनन्द के परिणाम को लेखनी दूसरों के लिये लिख सके। और वह इसके बिना और क्या लिख सकी है कि हे अन्तर्य्यामिन् परमात्मन्! आप अपनी कृपा से इस देश के पापों को क्षमा करो, देश में नया जीवन दान करो जिस से प्राचीन आर्य्यों की वर्तमान समय की

सन्तान अपने पूर्वजों के अभ्यस्त मार्ग पर चलना सीखकर अपने धार्मिक जीवन से वे बातें प्रकाश करे कि जिनका वृत्तान्त पढ़ वा सुनकर एक प्रकार का उनके जीवन में अस्थिर सा परिवर्तन मालूम होता है। देर तक जब बाप बेटा आपस में मिल चुके और दोनों ओर स्नेह के रस को पीकर अपने हृदयों को तृप्त कर चुके, तो प्रत्येक ने एक दूसरे को कुशल क्षेम पूछा। शिवगुरु के पिता ने उसकी माता के स्नेह वियोग और प्रतीक्षा को प्रकट करके कहा, बेटा! गुरु जी की आज्ञा लेकर अपने घर चलने की तय्यारी करो और वहां पहुंच कर अपनी माता के कलेजे को ठंडा करो। एक तुमही उसकी आंखों के तारे हो और तुम्हारे देखने और मिलने के लिये वह अशान्त हो रही है। जिस समय वह तुम्हें अपनी आंखों से देखेगी उसकी सारी अशान्ति काफूर हो जाएगी। कलेजा ठंडा हो जाएगा। उसकी सारी जीवन की आशाएं तुम पर ही हैं और पूर्ण आशा है कि तुम इन सारी आशाओं को पूरा करोगे।

यह कह कर बापने बेटे को गुरुदक्षिणा दी और उसने इसे अपने गुरु के आगे रखकर समावर्तन संस्कार कराया। इस संस्कार को करते हुए शास्त्रों की रीति के अनुसार गुरु ने अपने शिष्य को उपदेश दिया, जिसको कि वह चित्त लगाकर सुनता रहा। अब गुरु को प्रणाम करने के पीछे पिता पुत्र दोनों अपने घर की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग की दूरी को पार करके समय पर अपने ठिकाने पहुंचे। बेटे ने घर में जाकर माता को प्रणाम किया और माता ने अपने बेटे को गले लगा कर उसके विरह के सन्ताप को दूर किया। शिवगुरु ने भट्टपाद के सिद्धान्त, प्रभाकर सिद्धान्त, वैशेषिक, न्याय और सांख्य आदि

शास्त्रों में शिक्षा पाई थी। विद्याधिराज ने इन सब विषयों में उसकी परीक्षा की। और शास्त्रों में प्रश्नोत्तर की रीति पर बात चीत करके उसकी बुद्धि को जांचा। इन सारी परीक्षाओं में शिवगुरु पूरा निकला और माता पिता को बेटे की विद्वत्ता पर बड़ा अभिमान हुआ। शिवगुरु के समावर्तन और विद्वत्ता की वार्ता जब चारों ओर फैली, तो जगह २ से उसके सम्बन्ध के लिये संदेशा आने लगे। बहुत से धनवानों ने पुष्कल धन देने की प्रतिज्ञाएं भी कीं। पर विद्याधिराज ने धर्मशास्त्र की मर्यादा के अनुसार धन की परवाह न करके एक अच्छे कुलीन ब्राह्मण के यहां शिवगुरु का सम्बन्ध होना उचित समझा। वाग्दान तो हो गया, पर विवाह के समय आपस में यह विवाद हुआ। विद्याधिराज कहता था, कन्या का पिता मेरे घर में कन्या को लाकर विवाह करे और कन्या का पिता कहता था, विवाह का सारा कार्य्य मेरे घर में होना चाहिये। ऐसी अवस्था में मैं संकल्पित धन से दुगुणा धन देने को तय्यार हूं। विद्याधिराज को धन की तो कुछ परवाह न थी, उत्तर दिया कि एक कौड़ी तक का दाज लिये बिना शिवगुरु का विवाह करना स्वीकार, पर विवाह अपने घर ही में होगा। कन्या के पिता मघ पण्डित को उसके एक मित्र ने सम्मति दी कि अधिक हठ करना तुम्हारे लिये उचित नहीं, यदि तुम विद्याधिराज के घर जाकर विवाह न करदोगे तो लड़का दूसरी जगह व्याहा जाएगा और फिर तुम्हें ऐसा होनहार और विद्वान् लड़का मिलना कठिन होगा। मघ पण्डित इस बात को समझ गया और उसने अपनी कन्या का विवाह लड़के के पिता के घर में जाकर करना स्वीकार कर लिया। विवाह की तिथि नियत हो गई और कुल की

मर्यादा के अनुसार नियत तिथि पर शिव गुरु का विवाह हो गया।

इस स्नातक ने गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर अपने जीवन के मोतियों को वैदिक कर्मों के तागे में परो दिया। विवाह के समय जिस जगह हवन हुआ था वही जगह और वही हवन-कुण्ड प्रतिदिन के हवनयज्ञ के लिये नियत किया गया। इस कुण्ड में हवन यज्ञ की अग्नि कभी ठंडी न होने पाती। प्रति दिन सायंप्रातः संध्या उपासना के पीछे शिवगुरु और उस की धर्मपत्नी वेद पढ़ते। हवन यज्ञ करते। और यथा शक्ति अतिथि सेवा करने को परम धर्म जानते। जब तक किसी अतिथि की (यदि उन के घर आगया हो) सेवा तन मन से करके उसको यथा रुचि भोजन न करा लेते, आप कुछ न खाते। बच्चों को विद्यादान देने का एक समय नियत था। उस समय नन्हे २ बच्चे आप के पास आते और विद्या पढ़ते। बड़े बूढ़े शास्त्रों के सूक्ष्म विषयों पर विचार से लाभ उठाते। निदान शिवगुरु के चित्त में परमात्मा ने परोपकार के स्वभाव को कूट २ कर भर छोड़ा था। कोई काम ऐसा न था, जो शास्त्र-प्रमाण से ब्राह्मण को करना उचित हो और शिव गुरु उसको न करे। जिस प्रकार इस पुरुष ने ब्रह्मचर्य्य आश्रम में रह कर यह बता दिया था कि मैं ब्रह्मचर्य्य के सारे अङ्गों को पूरा करने के लिये तय्यार हूं। न केवल तय्यार, किन्तु बड़ी सफलता के साथ उसने प्रत्येक अङ्ग को पूरा किया। इसी प्रकार गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके शिवगुरु और उसकी धर्मपत्नी ने प्रकट कर दिया, कि वे दोनों गृहस्थ आश्रम के सारे धर्मों को ठीक उसी प्रकार पालन कर के अपने जीवन को सफल करना चाहते हैं जैसी कि वेद और शास्त्रों में आज्ञा है॥

इस प्रकार अपने जीवन को बिताते हुए एक लम्बा समय बीत गया, पर शिवगुरु के घर कोई बच्चा न हुआ, जिससे उसके वंश का नाम रहे। सन्तति न होने का शोक शिवगुरु और उस की धर्मपत्नी को अत्यन्त था। जिस समय इन दोनों की युवावस्था बीत गई और बुढ़ापे ने अपने लक्षण दिखाने आरम्भ किये। उस समय इनके घर सं० ८४५ विक्रम (७८८ ई०) में एक लड़का उत्पन्न हुआ। इस लड़के के जन्म पर बड़ा आनन्द मनाया गया। आयु ने जितना इन दोनों में धर्म की नींव को दृढ़ कर दिया था, उस से बढ़कर इस बच्चे में माता और पिता की ओर से धर्म के अंकुर उत्पन्न कर दिये थे। माता पिता ने बच्चे का नामकरण संस्कार कर के उसका नाम शङ्कर रक्खा। पर शोक ! कि काल कराल ने शिवगुरु को अपने बच्चे के पालन पोषण का अवसर न दिया। तीन वर्ष के आयु में उस ने इस नन्हे बच्चे का चूड़ा कर्म संस्कार किया और अपनी कुल मर्यादा के अनुसार पांच वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार करके उसे गुरुकुल में भेजना चाहता था कि आप उससे पहिले ही स्वर्गवासी हुआ। उस समय यद्यपि शंकर छोटी सी आयु का था और इस से अपने पिताके मृत्युने ज़ाहरा उसे कोई क्लेश न पहुंचाया हो पर इस में सन्देह नहीं कि उसके मृत्यु ने उस बच्चे पर अवश्य अपना असर किया। घर में केवल एक ही पुरुष था जिस की गोद में शंकर खेला करता था। अब कोई पुरुष उस को लाड से गोद में लेने वाला न था और वे पुरुष जिन को पिता होने का मान प्राप्त है इस बात का ठीक परिमाण लगा सकते हैं कि माता वा पिता का मृत्यु नन्हे से जीवन पर क्या असर डालता है ॥

शंकर के पिता का देहान्त हो जाने पर उस को माता के पास इस नन्हे से बच्चे के बिना और कोई न था, कि जिससे वह अपना मन बहलाया करे। होन्हार लड़कों में असाधारण चेष्टाएं अवश्य हुआ करती हैं और ये शंकर की माता के लिये एक प्रकार का मन बहलाया था ॥

शंकर का ब्रह्मचर्य्य का समय ।

अपने पति की मृत्यु के पीछे शंकर की माता के पास केवल यही एक लड़का था कि जिस की मीठी २ बातों से वह अपना मन बहलाया करती थी। और शोक की अवस्था का भी यही बच्चा उस का साथी था। इस बच्चे की असाधारण बातों और चेष्टाओं से (जो प्रायः होन्हार लड़कों में पाई जाती हैं) वह हर्ष और प्रमोद को अनुभव किया करती थी। यद्यपि शंकर के बचपन के जीवन के वृत्तान्त मालूम नहीं, तथापि हमारा विश्वास है कि वे बहुत मनोहर होंगे। जिन के कारण से यह अपनी माता का एक ही प्रेम-पात्र अपने आत्मा से भी अधिक प्यारा बन गया होगा कि जिस से वह क्षणभर के लिये वियुक्त होना पसन्द न करती हो जैसा कि ऐसी प्रतिकूल अवस्थाओं में प्रायः स्त्रियें अपने बच्चों को वियुक्त करना नहीं चाहतीं। पर शंकर की माता अपने पति की नांई कोई साधारण स्त्री न थी। सत् शास्त्रों का अभ्यास उस को बचपन ही से था और उसके पति के जीवन ने उस के जीवन को और भी धर्म की ओर झुका दिया था। अपने पति की मृत्युके एक वर्ष पीछे जब कि शंकर का

आयु पाँच वर्ष का था, उस की माता ने अपने बच्चे का उप- नयन संस्कार किया। उस के हाथ में दण्ड और कमण्डलु दे और उसे गेरवे रंग के वस्त्र पहना इस धार्मिक स्त्री ने शंकर को ब्राह्मण बनाने के अर्थ गुरुकुल में भेज दिया और बिछड़ने समय उसे इस प्रकार उपदेश किया। "बेटा! अब जाओ गुरु- कुल में निवास करो। लोकके सुख छोड़कर तपस्वी बनो। गुरुकी सेवा तन मन से करो। भिक्षा करके खाओ और ब्रह्म- चारी बनकर वेदों को पढ़ो। हमारे वंश में वेदों के पढ़े बिना कोई ब्रह्मबन्धु नहीं हो सकता" ॥

धन्य हो ब्रह्मपुत्रि! तुम धन्य हो। यदि इस देश की माताओं में ऐसा ही धर्मबल हो जैसा कि तुझ में था तो क्यों न उन के लड़के सुपुत्र बनें और वे क्यों न सदा के लिये जीवित रहें? यदि इस देश की माताएं तेरे जीवन को अपने जीवन का आदर्श बनाएं तो क्यों न हतभाग्य आर्य्यावर्त अव- नति के अन्धेरे गढ़े से निकल कर बहुत जल्द उन्नति के शिखर पर पहुंचे? क्यों न वेदविद्या का सूर्य्य अपने प्रकाशसे सारे लोक को प्रकाशित करे?

अपनी मातासे विदा होकर शंकर गुरुकुल में गया और पुराने विद्यार्थियों की नाईं वहां रह कर विद्याध्ययन में प्रवृत्त हुआ। उस की समझ छोटी सी आयु में ही लोगों को आश्चर्य में डालने वाली थी। इस अतिप्रदीप्त प्रज्ञा वाले विद्यार्थी के साथ उस के सहाध्यायी बराबर नहीं चल सके। और उस की प्रबल युक्ति और समझ के हेतु गुरु के लिये भी आसान न था कि बेपरवाही से इस होनहार लड़के को शिक्षा दे। विद्यो- पार्जन करने के जो गुण होने चाहियें वे सब के सब शंकर में

वर्तमान थे और इसी हेतु से गुरु न केवल इस लड़के को प्यार करता, किन्तु बड़ी सावधानी के साथ उसको शिक्षा देता था। यह लड़का भी अपनी योग्यता से अपने गुरु की सेवा में सदा तय्यार रहता और इसी योग्यता और विनीत-भाव के कारण उसने अपने गुरु का विशेष अनुग्रह लाभ कर के शास्त्र के सूक्ष्म विषयों को बहुत शीघ्र धारण कर लिया था।

ब्रह्मचर्य्य आश्रम के दिनों में वह अपने और विद्यार्थियों के साथ एक दिन भिक्षा करने गया। दैवयोग से यह ब्रह्मचारी एक अति निर्धन ब्राह्मण के घर भिक्षा के लिये गया। उस ब्राह्मण की धर्मपत्नी ने शंकर को बड़े आदर के साथ बिठाया और बड़े मधुर वचन और नम्रता के साथ कहा। धन्य हैं वे लोग जो आप जैसे विद्यार्थियों की सेवा करते हैं। दैव ने हमें ऐसा हतभाग्य बनाया है कि हमारे पास वेदों के विद्यार्थियों को अन्न भी देने के लिये विद्यमान नहीं। शोक है, निर्धनता के कारण से मैं विद्यार्थियों को कुछ भिक्षा नहीं दे सकती, शोक है हमारे जीवन पर, कि यह व्यर्थ ही बीता चला जाता है। वेदों का विद्यार्थी और उस को हम गृहस्थ होकर घर से ख़ाली भेजें। हा शोक! घर में कोई वस्तु नहीं, जो मैं एक विद्यार्थी के भिक्षापात्र में डालूं। वह इस प्रकार अतिदुःखित हो रही थी कि उस के घर में एक आमले का वृक्ष था उससे एक आमला नीचे गिरा। यह देख कर उसका सारा शोक काफ़ूर हो गया। उसने बड़ी प्रसन्नता से वह आमला उठाया और परमात्मा को धन्यवाद देते हुए शंकर के भिक्षापात्र में डाल दिया कि मैं एक विद्यार्थी को घर से ख़ाली नहीं भेजती हूं। इस भिक्षा को स्वीकार करके शंकर वहाँ से चल दिया,

पर उस ब्राह्मणी की करुणामयी वक्तृता और धर्म्म पर दृढ़ता ने अपना पूरा प्रभाव डाला। गृहस्थ आश्रम के सारे क्लेश एकः वार उसके सामने आ वर्तमान हुए और उन्हीं ने शंकर के हृदय में वैराग्य का बीज बो दिया, जो विद्या के पानी से सिञ्चित होकर थोड़े ही समय में फलप्रद हुआ॥

समावर्तन (गुरुकुल से घर लौटना)

माधवाचार्य्य जो शंकराचार्य्य की प्रशिष्य प्रणाली में से था, लिखता है कि शंकर का सात वर्ष के आयु में समावर्तन हुआ। अर्थात् केवल दो ही वर्षों में इस होन्हार लड़के ने सारे शास्त्रों के सूक्ष्म विषयों को निर्णीत कर लिया और घर लौट आया। यह अत्युक्ति है। और इस अत्युक्ति का कारण यह है, कि माधवाचार्य्य शंकर को शिव का अवतार मानता था। उसकी मति में शंकर का गुरुकुल में जाना और गुरु से विद्याध्ययन करना केवल शास्त्र की मर्यादा स्थिर रखने के लिये था वास्तव में उसको विद्याध्ययन की आवश्यकता ही न थी। माधवाचार्य्य और उसके साथियों के विचार में शंकर शिव का अवतार होने के कारण से जन्म से ही सारी विद्याओं में निपुण था। न केवल निपुण अपितु सारी विद्याओं का प्रभव माना जाता था। माधवाचार्य्य का यह लेख सम्भव है कि इस नियत से हो, कि वह यह प्रकट करे, कि शंकर सात वर्ष के आयु में गुरुकुल से वापिस हो सोलह वर्ष की आयु तक अपनी माता के पास रहा और उसने देर तक उसको

सेवा की। पर वास्तव में ब्रह्मचर्य आश्रम में ही इसको गृहस्थ आश्रम की ओर से वैराग्य हो गया था और इसीलिये वह समावर्तन के पीछे गृहाश्रम में प्रविष्ट नहीं हुआ किन्तु स्नातक ब्रह्मचारी बना रहा। इस समय तक वेदों की भक्ति ने उसके हृदय पर अपना पूर्ण प्रभाव जमा लिया था। वैराग्य के साथ सत् शास्त्रों के प्रचार की उमंग अब शंकर को इस बात के लिये प्रोत्साहित कर रही थी, कि वह अपने ब्रह्मचर्य्य के बल के साथ बौद्ध, जैन और अन्यान्य मतों का सामना करे, क्योंकि जन्होंने आर्य्यावर्त से वेद और सत् शास्त्रों की शिक्षा को निकाल अपना प्रभुत्व जमा लिया था। फिर यह भी प्रतीत होता है कि वह अपने उद्देश्य के काम पर जाने के अर्थ अपनी माता से आज्ञा प्राप्त करने की नियत से समावर्तन के पीछे कुछ देर तक स्नातक ब्रह्मचारी रह कर विद्यार्थियों को पढ़ाया करता था। काले हरिण का मृगान पहिनता था। और अध्यापन के कामसे अवकाश पाकर सत् शास्त्रों और बौद्धधर्म आदि के पुस्तकों का विचार किया करता था, माता की प्रसन्नता लाभ करना इस में उसका उद्देश्य था। इस लिये शंकर जिस प्रकार प्रतिदिन चुपके २ अपने उद्देश्य का काम किये जाता, इसी प्रकार माता की सेवा और मधुर वचनता से उसकी प्रसन्नता लाभ करने और उसको अपने उद्देश का सहायक बनाने में कोई बात पीछे न रखता।

थोड़े ही दिनों में शंकर की विद्या की ख्याति मालावार में फैल गई और होते २ उस देश के राजा तक उसकी ख्याति पहुंची। राजा को विद्या में बड़ा अनुराग था और इसी कारण वह विद्वानों का बड़ा आदर करता था। शंकर की विद्वत्ता को

सुनकर राजाको इस से मिलने की इच्छा उत्पन्न हुई और चाहा कि इस विद्वान् को अपनी सभा के रत्नों में प्रविष्ट करे। इस प्रयोजन के पूरा करने के लिये उसने अपने मन्त्री को शंकर की सेवा में भेजा। मन्त्री ने शंकर की सेवा में उपस्थित होकर राजा की ओर से एक हाथी और कुछ नकदी भेंट की और कहा कि मालावार का राजा कि जिसकी सभा में बड़े २ विद्वान् विद्यमान हैं आप के दर्शनों का अभिलाषी है। आप अपने पधारने से राजसभा को भूषित करें। आशा है कि आप की विद्वत्ता का सूर्य्य अपने प्रकाश से जगत् की अविद्या को दूर करेगा। इसमें संदेह नहीं, आप जैसे विद्वान् राजसभाओं के योग्य हैं और राजसभाएं भी आप जैसे विद्वानों से ही सुशोभित होती हैं। महाराज आप की विद्या का आदर करेंगे और आपके उपदेशों से लाभ उठाकर आनन्द पाएंगे॥

शंकर ने इस सारी वक्तृता को ध्यान के साथ सुना और बड़े विनय से उत्तर दिया। वेदों में आज्ञा है, ब्रह्मचारी मृगछाला पहने और भिक्षा करके खाए, इसी से उसका इस लोक और पर लोक में भला होता है। मैं इन धर्मों को छोड़ और बाह्य आडम्बरों में फंसकर क्या सुख लाभ कर सकता हूं? और वे सुख मेरे लिये कब लाभदायक हो सकते हैं, कि जिन का सत् शास्त्रों में स्पष्ट निषेध है। आप मेरी ओर से महाराज जी की सेवा में निवेदन करें, कि आप अपनी प्रजा के पिता हैं, आपको चाहिये अपनी सारी प्रजा को धर्म के मार्ग पर चलने की शिक्षा करें। और आपके लिये उचित नहीं, हमें अपने कर्मों के छोड़ने का उपदेश करें। इस उत्तर के साथ शंकर ने राजकीय उपहार लेने से बड़ी नम्रता के साथ इनकार

किया और कहा यह सब कुछ गृहस्थों के लिये है, ब्रह्मचारियों के लिये नहीं ॥

राजा का मन्त्री शंकर की इस प्रकार की गम्भीरता और धर्म में दृढ़ता को देखकर आश्चर्य हो गया। उसने बड़ी नम्रता से इस ब्रह्मचारी को प्रणाम किया और राजा के पास जाकर उस के सारे गुणों को अन्यूनानतिरिक्त कह सुनाया। उसने राजा के मन में शंकर के गौरव को और भी दुगना कर दिया और अब वह स्वयं चलकर शंकर के स्थान पर आया। क्या देखता है कि स्नातक ब्रह्मचारी को चारों ओर से उसके विद्यार्थी घेरे बैठे हैं और वह स्वयं काले हरिण का मृगान पहने एक आसन पर बैठा हुआ उन्हें शास्त्रों के रहस्य समझा रहा है ॥

शंकर की आयु इस समय सोलह वर्ष से अधिक न थी। राजा इसकी आयु और विद्या को देखकर आश्चर्य रह गया और बड़े विनीत भाव से उसके पास गया। शंकर ने बड़े आदर के साथ राजा को स्वागत करके कुशल क्षेम पूछा। दोनों एक ही आसन पर बैठ गए। बैठते ही राजा ने दस हज़ार मुहरें और अपने रचित तीन नाटक शंकर की भेंट किये। शंकर ने तीनों नाटक तो ले लिये, पर मुहरें वापिस कर दीं। और कहा कि एक स्नातक के लिये इनका अपने पास रखना हानि और पाप का कारण है। धन गृहस्थों के उपयोगी है, आप यह किसी अधिकारी को दें, जो इसे कुटुम्ब के पोषण में खर्च करके आपको धन्यवाद दे। मेरे लिये इस से बढ़कर और कोई प्रसन्नता नहीं कि आपके धर्म्म राज्य में मैंने वेदाध्ययन किया है ॥

इसके पीछे शंकर ने उन नाटकों को सुना और उनकी बहुत प्रशंसा की। शोक है कि उन नाटकों का नाम मालूम नहीं और न ही वे आजकल हस्तगत होते हैं। नहीं तो बड़े विस्तार के साथ इन के विषयों पर विद्वानों ने विचार किया होता। शंकर दिग्विजय से इतना ही मालूम होता है कि ये नाटक अपनी उपमा नहीं रखते थे॥

देर तक राजा और शंकर आपस में प्रेम से बातें करते रहे अन्ततः राजा ने जाने की आज्ञा मांगी। शंकर ने आशीर्वाद दिया, परमेश्वर आप की सारी कामनाओं को पूर्ण करें। इस पर राजा ने प्रार्थना की। महाराज मेरे घर सन्तति नहीं होती, आप इसका कोई विधान बतावें, कि जिसके अनुष्ठान से सन्तान हो। शंकर ने राजा को पुत्रेष्टि यज्ञ करने का उपदेश करके उसे बड़े आदर के साथ विदा किया॥

शंकर को संस्कृत, प्राकृत और मागधी भाषाओंमें पूर्ण बोध था इसलिये उसके पास प्रति समय विद्या की चर्चा रहती थी। अपनी शिक्षा और उपदेशों से उसने ब्राह्मणों के लड़कों को कुछ न कुछ सिखा दिया था और इसी कारण से आस पास के लोगों के हृदयों में इसका विशेषतः आदर था।

इस प्रकार ब्रह्मचारीके धर्म को पूरा करते और अपनी माता की श्रद्धा के साथ सेवा करते हुए, शंकर ने कुछ समय अपने घर में बिताया। माता और पुत्र में दिन प्रतिदिन स्नेह इतना बढ़ता जाता था, कि ज़ाहिरा इन दोनों की जुदाई एक असम्भव सी बात प्रतीत होती थी। और साधारणतः यह समझा जाता था, कि यद्यपि शंकर सारी लौकिक कामनाओं से निरपेक्ष है। पर माता का स्नेह उसे घरसे बाहिर जाने

नहीं देगा। इस अवसरमें शंकरके बन्धुओं ने उसे बिवाहना चाहा। शंकर अपने आपको एक और काम के लिये तय्यार कर रहा था और उसके बन्धु उसे गृहस्थ की शृंखला में जकड़ना चाहते थे। पर शंकर बड़े उच्च हृदय का पुरुष था, जगत् के लुभाने वाले विषयों के लिये असंभव था, कि वे उसे अपनी ओर खींच सकें। वह जानता था कि मैं ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुआ हूं। यद्यपि छोटी आयु में ही पिता मुझसे बिछड़ गए, तो भी मेरे ये बड़े उच्च भाग्य हैं कि मैंने ब्राह्मणों के पहिले कर्त्तव्य को भली भान्ति पालन कर लिया है (अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम को पूरा कर लिया है) मेरे लिये इस से बढ़ कर और कौन गौरव का स्थान हो सकता है, कि मैंने उस माता का दूध पिया है कि जिसमें ब्रह्मपुत्री के सारे गुण वर्त्तमान हैं, और वह धर्म के एक अंगको पूरा कराने के निमित्त अपने एक ही स्नेहपात्र को अलग रख सकती है। शोक है मुझ पर, यदि ऐसी माता का दूध पीकर मैं धर्म के दूसरे अंग को पूरा न करूं। सहस्रों माताओं से बढ़कर सत्य धर्म के उपदेश करनेवाली माता श्रुति बौद्ध और जैन आदि मत मतान्तरों के पाओं तले रौंदी जा रही है। उसका आदर करने की जगह कुपुत्र उसका अनादर कर रहे हैं। उसकी जिह्वा में इतनी शक्ति नहीं, कि बल के साथ कह सके। बच्चो! अपनी माता की ओर देखो उसकी आर्त्त अवस्था पर दया करो। तुम भूल गये हो कि किसकी छाती से तुमने दूध पिया और अब किस की निन्दा कर रहे हो। जिस को तुम माता समझे बैठे हो वह तुम्हारी माता नहीं, किन्तु शत्रु है। वह तुम्हें न केवल इस लोक में खराब करे गी किन्तु परलोक का भागी बननेसे

भी रोकेगी। ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के बिना तुम अपने जीवन को सफल नहीं कर सकते। ज्ञानकाण्ड को तो तुम परे फेंक चुके हो और कर्म्मकाण्ड का भी एक अधूरा सा अंग पालन कर रहे हो॥

शङ्कर इस आर्त्त स्वर को सुन रहा था और वह उसकी सचाई को अनुभव करता था। ऐसी शोचनीय दशा में शङ्कर जैसे महापुरुष के लिये गृहस्थकी शृंखला में जकड़े जाना बहुत कठिन था। वह समझता था कि मैं ब्राह्मण हूं, शोक है, मेरे जीवन पर, यदि मेरे सामने वेदों पर मिथ्या कलंक लगाए जाएं। जगत धर्म से अनभिज्ञ हो, अधर्म के अन्धकार के गढ़े में गिरा रहे। मैं ब्राह्मण हूं और यदि धर्म के मार्ग पर से मैंने इन कांटों का शोधन न किया तो मेरे ब्राह्मणत्व और ब्रह्मचर्य्य पर कलङ्क है॥

शङ्कर को विद्वानों और संन्यासियों की संगति की बड़ी रुचि थी और वे भी इसकी ख्याति सुन कर दूर २ से इस के दर्शन के लिये आया करते थे। वे स्वयं भी धर्म की गिरी हुई अवस्था को अनुभव करते थे और सोचते थे कि किस प्रकार इसका उद्धार हो। ऐसे महापुरुषों की संगति ने शंकर के इरादों पर और भी रंग चढ़ा दिया और उसने अनुभव किया कि एक गाढ़ अन्धकार ऋषियों के देश में फैला हुआ है और एक भयानक विनाश की घटा इस देश पर जो कभी बड़ी अच्छी अवस्था में था आई हुई है। उसने सोचा कि इस अन्धकार को दूर करके उसी प्रकाश को नए सिरे चमकाये कि जिस के कारण से आर्य्यावर्त एक समय में विख्याति पा चुका था। ये सारी बातें पूरे बल के साथ शंकर के हृदय पर अपना असर

कर रही थी। इधर शंकर इस सोच में था, कि किसी प्रकार अपनी माता से आज्ञा लेकर अपने उद्देश्य के काम को आरम्भ करे, उधर उस की माता और बन्धु उस के विवाह की चिन्ता में थे। एक दिन अवसर पाकर शंकर ने अपनी वृद्धा माता के सामने शास्त्रों के अनुसार वैराग्य का उपदेश करना आरम्भ किया और इसी प्रसंग में उसने विवाह से इनकार करके अपने मनोगत भाव को पहिली बार अपनी माता पर स्पष्ट शब्दों में प्रकट करके कहा। मातः! यह जगत् विनाशशील है इस के साथ प्रेम करना व्यर्थ है। यदि आप ध्यान देकर देखें, तो मालूम करेंगी, कि जगत् में किसी का किसी के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। कौन जानता है, पिछले जन्मों में हम कहां २ थे और हमारा किस किस के साथ सम्बन्ध था? मातः! क्या तुझे मालूम है कि तूने पिछले जन्मों में कितने पुत्रों को जन्म दिया और उन का पालन किया? कितनों को व्याहा और कितनी वहुओं को बड़े लाड और चाव से अपने घर लाई? बताओ अब वे सारे के सारे कहां हैं? संसार का मेला केवल कुछ दिनों का है, उस के प्रेम में प्रमत्त होना बुद्धिमानों का काम नहीं। मुझे तो साफ़ २ इस लोक में किसी प्रकार का सुख दिखाई नहीं देता। मातः! मुझे आज्ञा दे कि मैं चौथे आश्रम में प्रवेश करके इस लोक के दुःखों से मुक्ति लाभ करूं। मुझे गृहस्थ आश्रम में कोई सुख दिखाई नहीं देता। मुझ पर अनुग्रह करो और मुझे इसके बन्धन में न डालो। संसार के धन्दे मेरे उद्देश्य में रुकावटें डालेंगे और मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं इन धन्दों से सदा के लिये अलग रहूंगा। यह कह कर शंकर अपनी माता के पाओं पर गिर पड़ा॥

शंकर की प्रार्थना को सुन और उसकी इस अवस्था को देख माता का सारा वैराग्य जाता रहा। वह फूट २ कर रोने लगी। इतनी रोई कि बात करने की शक्ति उस में शेष न रही और हिचकियां पर हिचकियां आनी आरम्भ हुईं और इसी अशक्तता की अवस्था में उसने कहा। बेटा! मेरे बुढ़ापे पर दया कर। अपने कठिन विचार को छोड़। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर। क्या तू नहीं जानता शास्त्रों में गृहस्थ आश्रम के बराबर और किसी आश्रम को नहीं लिखा? यही सारे आश्रमों का सहारा है। गृहस्थों के द्वारा लोग ब्रह्मचर्य्य आश्रम को पूरा करते हैं। गृहस्थ आश्रम ब्रह्मचर्य्य आश्रम को पूरा करने के लिये ब्रह्मचारियों को सहायता देता है और गुरुकुल के लिये ब्रह्मचारी तय्यार करता है। गृहस्थ आश्रम में लोग वानप्रस्थ आश्रम की तय्यारियां करते हैं और इस आश्रम में प्रवेश किये बिना वानप्रस्थ आश्रम निष्फल है। संन्यास आश्रम में प्रवेश करके संन्यासियों को गृहस्थों की सहायता के अधीन होना पड़ता है इसी हेतु से शास्त्रों में इस आश्रम को बड़ा उत्तम आश्रम लिखा है। शास्त्र की मर्यादा पर चल। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर। और जब तेरे घर संतति हो जाए तो संन्यास आश्रम स्वीकार कीजो, यही भले पुरुषों का मार्ग है। फिर क्या तू नहीं जानता एक तू ही मेरी आंखों का तारा है। तेरे बिना यह सारा जगत् मेरे लिये अंधेर है। मैं तेरे बिना कैसे जी सकती हूं? और तू किस प्रकार अपनी वृद्धा माता को छोड़ कर जाना चाहता है। क्या इस संकल्प से तेरा हृदय नहीं कांप उठता और तेरे आत्मा में दया नहीं आती? मेरे लिये तो तू ही मृत्यु और जीवन का एक प्रश्न है॥

शंकर ने देखा कि उसकी माता उसे किसी और काम में लगाना चाहती है और वह उस से वियुक्त होना पसन्द नहीं करती। पर वह स्वयं किसी और काम को करना चाहता है, पर अपनी माता की आज्ञा विना वह उसे छोड़कर जाना नहीं चाहता था। उसके सारे वैराग्य के उपदेश ने उस की माता पर अपना कोई असर न किया और अब शंकर को किसी और अवसर का प्रतिपालन करना पड़ा। दैवयोग से कुछ दिनों पीछे शंकर और उस की माता को किसी पास के गाओं से निमन्त्रण आया। दोनों निमन्त्रण में सम्मिलित हुए। पर लौटते समय क्या देखते हैं कि जिस नदी को वे जाती वार पाओं से पार करके गए थे अब कुछ वाढ़ पर है। उन्हों ने सोचा कि अब भी पाओं से पार कर जाएंगे और इसी विचार से दोनों पानी में उतर पड़े। होते २ पानी कण्ठ तक आ गया। धारा के वेग में अब न आगे वढ़ने में कुशल है न पीछे लौटने में निर्भयता है। इस अवसर को शंकर ने अपने लिये अत्युत्तम समझा। माता से कहा या तो मुझे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की आज्ञा दें, नहीं तो मैं इस नदी में डूब मरता हूं। जब संसार-रूपी नदी में डूबना ही है तो अभी यहां डूब कर क्यों न इस काम को पूरा करदूं? इस समय शंकर की माता के लिये विना इसके और कोई गति न थी कि अपने इकलौते वेटे को आज्ञा दे कि वह अपनी इच्छा के अनुसार देश का उद्धार करे। अत एव उसने आज्ञा दे दी और आज्ञा को पाकर शंकर ने अपनी माता को कन्धों पर उठा लिया और किसी दूसरे मार्ग से नदी के पार हो गया॥

कुछ दिनों के पीछे शंकर ने अपनी माता से अन्तिम

विदा चाही और प्रार्थना की । माता आपने मुझे नदी में से डूबते बचाया था और प्रतिज्ञा की थी कि संसार रूपी दूसरी नदी में भी तुझे डूबने से बचाऊंगी । माता तू जानती है यह संसार एक अथाह और अपार नदी है। इसमें काम रूपी बड़े २ मगर विद्यमान हैं और वे उस पुरुष को उसी क्षण अपने मुंह में डाल लेते हैं जो इस में प्रवेश करता है। इन मगरों के मुंह से केवल वही पुरुष बच सकता है जो इस नदी के अन्दर प्रविष्ट नहीं होता। माता तूने मुझे जन्म दिया है और तू मेरा भला चाहती है, तो किसी लौकिक तुच्छ ख्याल को दृष्टिगोचर रख कर मुझे इस मगर के मुंह में न डालिये । मुझे आज्ञा दो मैं संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होऊं और इस प्रकार भयानक मगर का ग्रास बनने से बचूं । तू जानती है कि इस जीवन पर भरोसा करना व्यर्थ है, कौन जानता है कि वह संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने के समय तक जीवित रहेगा वा नहीं अथवा यह कि उस को गृहस्थ आश्रम का भोगना भी भाग्य में होगा वा नहीं? कौन जानता है कि पहले इस संसार में वह कितने जन्म पा चुका है पर इन सारे जन्मों का क्या फल हुआ? बिना इस के कुछ नहीं कि वह अभी तक आवागवन के चक्र खा रहा है। यदि मैंने अपने इस जन्म को भी पिछले जन्मों के साथ मिला दिया तो यह जन्म भी निष्फल होगा । मेरा अब दृढ़ निश्चय है कि मैं अपने इस जन्म को व्यर्थ न गंवाऊं किन्तु इस से अमृत फल को लाभ करूं। मातः! तनिक दृष्टि उठा कर अपने देश की ओर देख तो सही कि ऋषियों के पवित्र देश में कैसा अन्धकार मचा हुआ है। लोग धर्म से गिरे हुए हैं। धर्म का इनको तनिक भी ध्यान नहीं। वेदों की निन्दा हो रही है।

लोगों में वेदों पर और परमात्मा पर तनिक भी श्रद्धा नहीं रही। परमात्मा मेरे मनोरथों को पूर्ण करें। यदि मैं नए सिरे वेदों का उद्धार करके फिर धर्म का संस्थापन कर सकूं तो इस से बढ़ कर मेरा जन्म और क्या सफल हो सकता है? और तुझे इस से अधिक और क्या गौरव हो सकता है कि तूने अपनी छाती के दूध से एक ऐसे पुत्र को पाला, जिसने पवित्र माता के पवित्र दूध को पीकर नए सिरे ऋषियों की भूमि में वेदों के धर्म को स्थापन किया। मातः! यदि मैं इस प्रकार धर्म का काम करके तेरे और अपने नाम को लोक में सदा के लिये जीवित रख सकता हूं, तो मुझे क्या आवश्यकता है कि गृहस्थ के धन्दों में फंसूं और अपने जीवन को व्यर्थ गंवाऊं? मातः! आज्ञा दो कि अब मैं संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होऊं और इस बात पर विश्वास रक्खो कि इस आश्रम में भी आपकी आज्ञा का पालन मेरे लिये भाग्य का हेतु होगा। घर में धन इतना है कि जिस से उदारता के साथ निर्वाह हो सकता है। सुख दुःख के समय सारे बन्धु आप की सेवा के लिये उपस्थित हैं। मुझे अपने पवित्र हाथों से इस पवित्र काम के लिये अर्पण करो, जिस से कि आप का और मेरा कल्याण हो।

संन्यास आश्रम में जाने की आज्ञा देना तो वह पहले ही स्वीकार कर चुकी थी, पर इन उपदेशों ने शंकर की माता के मन को और भी नर्म कर दिया और उसने प्रसन्नता से शंकर को अपने मनोरथों के पूरा करने और उद्देश्य में सफलता के लिये आशीर्वाद दिया। पर उससे यह स्वीकार करा लिया, कि जब मैं चाहूं, तो मुझे मिल जाना और मेरे मरने के पीछे संस्कार अपने हाथों से करना।

शंकर ने अपनी माता की दोनों आज्ञाओं को स्वीकार किया और कहा कि मेरे प्रति यह ख्याल न करना कि मैंने एक अनाथ विधवा माता को विपत्तियों में छोड़ संन्यास ले लिया है। मातः! जो फल मुझे इस धर्म कार्य्य का होगा। उस से सौ गुणा फल तुझे होगा। यह केवल तेरी ही उदारता है कि तू अपने इकलौते बेटे को एक धर्मकार्य के लिये समर्पण करती है। निःसन्देह इस धर्म कार्य के फल की तूही एक अधिकारिणी है।

अपनी माता के साथ इतनी बातें करने के पीछे शंकर अपने बन्धुओं की ओर प्रवृत्त हुआ और उन्हें अपनी माता को सौंपना करके अन्तिम प्रणाम के लिये उठ खड़ा हुआ। सब से पहले दोनों हाथ जोड़ कर शंकर ने अपना शिर अपनी माता के पाओं पर रक्खा। लेखनी में शक्ति नहीं कि इस दृश्य को वर्णन कर सके। शंकर की माता उस समय प्रमुक्तकण्ठ से रो रही थी। यद्यपि शुद्ध हृदय से वह अपने बेटे को संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की आज्ञा दे चुकी थी। पर इस समय मातृस्नेह ने अपना पूरा आवेग आ प्रकाश किया। उस में शक्ति न थी कि आंसुओं को रोक सके। अर्वाग्दर्शी के लिये वे आंसू प्रकट कर रहे थे कि शंकर की माता उसे अलग करना नहीं चाहती, पर एक दूरदर्शी पुरुष यह अनुभव करता था, कि पवित्र जननी अपने इकलौते बेटे को धर्म के अर्थ समर्पण कर रही है। संन्यास आश्रम में प्रवेश कराने के लिये उसे तालाब कुएं वा नदी नाले के पानी की आवश्यकता नहीं। माता अपने आत्मज को धर्म के निमित्त समर्पण करती है और एक दूसरे आश्रम में प्रवेश कराने के लिये अपनी आंखों के पानी से उसे स्नान करा रही है।

ऐसे अवसर पर शंकर ने बड़े धैर्य से अपने आप को वश में रक्खा और सारे दूसरे बन्धुओं को प्रणाम करने के पीछे वह घर से अपने उद्देश्य के काम पर चल निकला। लोग शंकर को बुरे शब्दों से याद करते थे और कहते थे यह नीच पुरुष अपनी माता की सेवा को छोड़ कर पाखंड जाल में जा फंसा है॥

शंकर के घर से चले जाने के पीछे उसकी माता के मन में भिन्न २ प्रकार के विचार आते थे। कभी तो उस को सारा जगत् अन्धेरा सा दिखाई देता और वैराग्य उस के चेहरे से टपकता। यद्यपि बन्धुजन उसे सान्त्वना देते, पर बेटे के विछोड़े के शोक को वह बहुधा सहन न कर सकती। मन में सोचती कि मेरी सारी आयु का फल केवल एक ही लड़का था। विद्याध्ययन के निमित्त मैंने बचपन में उसे अपने से अलग किया और चिरकाल तक उसके देखने के लिये तड़पती रही। घड़ियां गिनते २ वह समय आया कि मैंने अपने हृदय के टुकड़े को देख कर अपने कलेजे को ठंडा किया। अभी मन भर कर उसे देख भी न लिया था कि मुझ से फिर अलग हो गया। हाय! हाय! कैसा शोकमय दृश्य है। मेरे जीवन के बाग में केवल एक ही पौदा था; पर इस पर सदा के लिये शिशिर आ गया है। मानो प्रकृति ने वसन्त ऋतु इस के लिये उत्पन्न ही नहीं किया। निदान इस प्रकार के विचार शंकर की माता को प्रायः सशोक रखते। पर फिर वह अपने मन को आप ही शान्ति देती और कहती। तू किस लिये इतनी चिन्ताग्रस्त है शंकर तो तेरी आज्ञा के बिना घर से बाहर नहीं गया। जिस समय तक उसने तुझ से विदा नहीं प्राप्त करली उस समय तक द्वार

से पावों बाहर नहीं निकाला । अपने किये पर पछताना क्या और फिर तूने अपने बेटे को किसी बुरे काम के लिये तो आज्ञा नहीं दी और न वह तेरी सेवा के डर के मारे घर से निकला है। जिस काम का बीड़ा उसने उठाया है यदि वह इस में कृतकार्य हुआ तो मेरे जैसी अहोभाग्य माता जगत् में और कौन होगी ? शुभ होगा वह दिन कि जब शंकर जैसे पुत्र को मैंने जन्म दिया और धन्य भाग्य मेरे कि धर्मरूपी वृक्ष को मेरे दूध का पानी मिले और उससे वह नए सिरे हरा भरा हो जाय ॥

शंकर का संन्यास आश्रम ।

संसार मेव निःसारं दृष्ट्वा सार दिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्य माश्रिताः ॥

संसार को सार से खाली देख कर, सार के देखने की इच्छा से परवैराग्य लाभ करके गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट हुए विना (महा पुरुष) संन्यास आश्रम में प्रवेश करते हैं ॥

शंकर घर से निकल मारे आनन्द के अपने शरीर में फूला न समाया । मन की सारी उमंगें उसके सामने एक बार फिर आ वर्तमान हुई, जिन्होंने उस की प्रसन्नता को और भी द्विगुणित कर दिया । वह मन में सोचता था कि एक ओर से तो पूरी सफलता हो गई है । अब जगत् के धन्दे मुझे अपनी ओर नहीं खींच सकते इस समय मुझे उस काम को पूरा करने की चेष्टा करनी चाहिये कि जिस के लिये मैंने ब्रह्मचर्य आश्रम को इतनी जल्दी समाप्त कर लिया है ।

गोविन्दनाथ नामक एक महात्मा के पवित्र गुण सुन कर चिरकाल से शंकर का विचार था कि उस से ब्रह्मविद्या लाभ करे और संन्यास आश्रम में भी उसी के हाथ से दीक्षित हो। यह महात्मा अपनी तपश्चर्या के हेतु इतना विख्यात था कि जिस वन में वह तप करता था वह वन उस समय में उसी के नाम से प्रसिद्ध था। शंकर अब गोविन्दनाथ से लाभ उठाने के उद्देश्य से गोविन्दनाथवन की ओर प्रस्थित हुआ। अकेला जंगल और पहाड़ों की सैर करता हुआ एक दिन सायं समय वह उस वन में जा पहुंचा। क्या देखता है, कि मुनि आपस में बैठे शास्त्रों का विचार कर रहे हैं। उन के चेहरों से सन्तोष, सहिष्णुता, आत्मिक शान्ति और क्षमा आदि के लक्षण प्रकट हैं, तपस्या और उपासना का तेज उनकी आंखों से टपक रहा है। इन मुनियों के पास पहुंच कर शंकर ने पूछा, गोविन्दनाथ जी का आसन कहां है ? एक संन्यासी ने एक गुफा की ओर निर्देश किया कि जहां गोविन्दनाथ एकान्त में आसन लगाए बैठे ब्रह्मविद्या का विचार कर रहे थे। शंकर इस गुफा के पास पहुंचा। और उस की तीनचार प्रदक्षिणा कर गोविन्दनाथ जी को प्रणाम किया, और कहा मुझे आप के चरणों में भक्ति है। मैं आप के पास ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति के लिये आया हूं। कृपा करके मुझे संन्यास की दीक्षा प्रदान करें और आत्मविद्या का उपदेश दें। गोविन्दनाथ ने पूछा तेरा क्या नाम और क्या गोत्र है ? और तू इस आयु में क्यों संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होती है ? तेरी आयु तो अभी गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने की है। संन्यास आश्रम का मार्ग बड़ा दुस्तर मार्ग है जिस पर से नवयुवकों के लिये प्रति महूर्त फिसल जाने का भय है।

शंकर ने बड़े विनय के साथ दोनों हाथ जोड़ अपना वृत्तान्त और अपने विचारों का प्रकाश करते हुए अपना नाम वंश और गोत्र बताया और फिर अपने देश की वर्तमान अवस्था का चित्र गोविन्दाचार्य के सामने खींच कर कहा। महाराज ! आप से छिपा नहीं इस समय धर्म की कितनी भारी हानि हो रही है। यज्ञों का नाम देश में से छिपा जाता है। जड़वाद ने लोगों को अन्धा कर रक्खा है। उस प्रभु परमात्मा का कि जिसने अपनी अनन्त शक्ति से इस सारे विश्व को बनाया है कोई नाम तक नहीं लेता । पवित्र शास्त्रों की सारी की सारी मर्यादाएं टूट गई हैं। उन के स्थान पर अविद्या और अधर्म ने अपना प्रभुत्व आ जमाया है। वेदों पर झूठे कलंक लगाए जाते हैं और उन का पढ़ना पढ़ाना उनकी पवित्र ऋचाओं का स्वर सहित गाना अब सुनने में नहीं आता । समय नहीं कि अब हम अधिक देर तक प्रमाद की निद्रा में सोए रहें और ऐश्वर्य और विषयों के उपभोग में जीवन को बिताएं और निरपेक्षता से धर्म को पादाक्रान्त होने दें । सच जानिये विषयों में यह शक्ति नहीं कि मुझे अपनी ओर खींच सकें और न ही मैं उन्हें अवसर दूंगा कि वे मुझे अपनी जगह से गिरा सकें। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अधर्म राज्य का विध्वंस करके उस के स्थान पर धर्म का राज्य स्थापन करूं। और इस बृहत् कार्य्य के लिये मेरी सारी आयु के एक २ क्षण का प्रयत्न भी थोड़ा है। कृपा करके आप मुझे अपनी शरण में लें और मुझे आशा है आप के अनुग्रह से मैं इस योग्य बन जाऊंगा कि अपने जीवन के उद्देश को पूरा कर सकूं ॥

गोविन्दाचार्य्य शंकर के इरादों को सुन बहुत प्रसन्न

हुआ मनसे तो वह भो किसी ऐसेही पुरुषको शिष्य बनाना चाहता था। अब शंकर का उन के पास इसी प्रयोजन के लिये जाना उस के लिये एक प्रकार से बड़े आनन्द का स्थान हुआ। आचार्य्य ने शंकर को संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दी। शिष्टाचार के अनुसार उसने अपने दोनों पाओं गुफा से बाहर निकाले। शंकर ने उन की पूजा की। तदनन्तर संन्यास ग्रहण की रीति अनुष्ठान की गई। रीति का अनुष्ठान हो जाने के पीछे गोविन्दाचार्य्य ने अपने शिष्य का नाम स्वामी शंकराचार्य्य रख उस को वेदान्त के चार महावाक्यों का उपदेश किया॥

संन्यास लेने के पीछे स्वामी शंकराचार्य्य कुछ समय तक गोविन्दाचार्य्य से पढ़ते रहे। इस अवसर में उन्हों ने उपनिषद् और शारीरिक सूत्रों से भिन्न और भी कई एक शास्त्रों को दुहराया। और वर्षा का सारा ऋतु उन्हों ने अपने गुरु की सेवा में बिताया। गोविन्दाचार्य्य ने जब देखा कि स्वामी शंकराचार्य्य अब अपने सारे सन्देहों को दूर कर शास्त्र पढ़ चुके हैं और अपने उद्देश्य का काम करने के लिये प्रस्तुत हैं, तो एक दिन उन्होंने उन्हें अपने उद्देश्य के काम पर जाने के लिये आज्ञा दी, और उस समय के ऋतु की ओर निर्देश कर उस को यह उपदेश दिया॥

"हे सौम्य! क्या तू देखता है, जिस प्रकार ब्रह्मविद्या चित्त को निर्मल कर देती है इसी प्रकार शरद् ऋतु (आश्विन और कार्तिक के महीने) ने आकाश को निर्मल कर दिया है। मेघ मन खोल सारी वनस्पतियों को हरा भरा और कृतार्थ कर जिधर मन आया चले जाते हैं। संन्यासी देश का उपकार

करने के निमित्त लोगों को अपने मनोहर उपदेशों से उपकृत करने के लिये अपनी २ कुटियों को छोड़ रहे हैं । मेघों के तितर बितर हो जाने से चन्द्रमा अधिक सौन्दर्य्य के साथ चमक रहा है और इसी कारण से उस का मनोहर प्रकाश दुगना हुआ दिखाई देता है और यह ठीक इस प्रकार है जिस प्रकार कि लालचों के दूर होने पर तत्वज्ञानियों का बोध झलकता है । फिर क्या तू देखता है मेघों के चले जाने के कारण तारे निर्मलप्रभा के साथ दुगुने बल से चमक रहे हैं जिस प्रकार राग द्वेष के दूर होने पर प्रसन्नता के चिह्न चेहरे पर टपका करते हैं । मानो अब यह समय चांदनी की श्वेत भस्म सारे शरीर पर मल कर चन्द्रमण्डल रूपी कमण्डलु को हाथ में ले और लाल फूलों की गेरवी पोशाक पहन संन्यासी के भेस में निकला है । फिर तनिक इन फूलों की ओर दृष्टि डालो, ये इस प्रकार खिल रहे हैं जैसे योग के अभ्यास से मुनियों के हृदय पर परमात्मा के प्रकाश की रश्मियों के पड़ने से उन के हृदयकमल खिल जाते हैं । जिस प्रकार परमहंस संन्यासियों की संगति से लाभ उठाने के कारण से रजोगुण को नष्ट करके तेरा मन स्थिर हो गया है । पाप, राग और द्वेष की मैल इस पर से दूर हो चुकी है और वह बड़ा गम्भीर मालूम देता है । इसी प्रकार यह जल जो तेरे सामने बहा जाता है हंसों के कारण शोभा पा रहा है । उस की मैल कुचैल दूर हो चुकी है और हिल चल भी बन्द हो गई है इसी कारण से यह बड़ा गम्भीर दिखाई देता है । वनस्पति भी शरद् ऋतु के हरित पत्तों के कपड़े पहने हुए भौरों की माला और कलियां रूपी कमण्डलु लिये संन्यासियों का भेस बना रहे हैं । महा

पुरुष धारणा, ध्यान, समाधि, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से वर्षा ऋतु को लुभाने वाले स्थानों में बिता कर जगत् को पवित्र बनाने के अर्थ देश २ में फिर रहे हैं । बेटा! अब तुम भी तय्यार हो जाओ। वेदों के प्रचार के लिये काशी की ओर जाओ। वहां योग्य और चुने हुए शिष्य अपने लिये तय्यार करो और ब्रह्मविद्या के सूक्ष्म विषय उन्हें समझाओ । इस समय मैं तुम्हें उस काम के करने के लिये आज्ञा देता हूं कि जिस के लिये तूने अपनी बूढ़ी माता को छोड़ा है और जिस की मेरे मन में चिरकाल से इच्छा थी । परमात्मा आशीर्वाद करें तुम अपने काम में कृतार्थ हो। परमात्मा तुम्हारे सहायक बनें, उन्हीं पर भरोसा रख तुम अपना काम आरम्भ करो"॥

गुरु की प्रेरणा ने स्वामी शंकराचार्य्य के मन पर और भी असर डाला। इस आज्ञा को पाकर उन्होंने अपने गुरु के पाओं पर सिर रक्खा और कहा। यद्यपि आप के चरणों की प्रीति और आप की सेवा का आनन्द इस बात की ओर प्रेरते हैं कि मैं सदा के लिये आप की सेवा में सन्नद्ध रहूं, पर आप की आज्ञा का पालन मेरे जीवन का उद्देश्य है और इसी में मेरे जन्म और धर्म्म का उद्धार है। आप मुझ पर कृपा दृष्टि रक्खें और कभी मुझे विस्मरण न करें । यह कह और गुरु को प्रणाम कर स्वामी शंकराचार्य काशी की ओर पधारे, और इस जगह कुछ समय स्थिति के पीछे आप की विद्वत्ता और वैराग्य की धूम चारों ओर फैल गई। आपने भी वहां के वर्तमान विद्वानों और संन्यासियों के सत्संग से बहुत कुछ लाभ उठाया । आप की ख्याति को सुन लोगों ने निरन्तर आप के दर्शन के लिये आना आरम्भ किया। इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य्य का सारा दिन

धर्मचर्चा और शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने में व्यय होता॥

एक दिन एक ब्राह्मण का लड़का आप के पास आया। इस नवयुवक लड़के के चेहरे पर वैराग्य के चिह्न पाए जाते थे, और उस की विनीत आकृति प्रकट करती थी कि उस में धर्म के अंकुर विद्यमान हैं। यह लड़का आते ही आप के चरणों पर गिर पड़ा। स्वामी शंकराचार्य्य ने उसे उठाया अपने गले लगाया और पूछा, तू कौन है कहां से आया है, और तेरा घर कहां है? लड़के ने उत्तर में कहा, मैं ब्राह्मण हूं। चौलदेश में (जो कृष्णा नदी के परे दक्षिण सीमा में है) कावेरी नदी के किनारे मेरा घर है। मैंने इस समय तक विवाह नहीं किया और न ही आगे करने का संकल्प है जगत् के विषयों से मुझे वैराग्य है। डर है कि कहीं इस संसार सागर में ही न डूब जाऊं। सो इस सागर से पार होने की ढूंढ में घर से निकल महापुरुषों के दर्शन करता हुआ आप की सेवा में पहुंचा हूं। आशा है आप कृपा दृष्टि से मुझे इस संसार रूपी समुद्र से पार उतारेंगे। निदान इस प्रकार की बातें आपस में देर तक होती रहीं और स्वामी शंकराचार्य्य ने मालूम कर लिया यह पुरुष पूरा विरक्त और विद्वान् है ऐसे ही पुरुषों की मुझे आवश्यकता है। आपने इस नवयुवक के मन में संन्यास के गौरव को भली भान्ति स्थिर किया और तदनन्तर उसे अपना शिष्य बना लिया यह पुरुष आप का पहला शिष्य है। इस का नाम सनन्दन था। और यही सनन्दन पीछे पद्मपाद के नाम से प्रख्यात हुआ है। इस के बिना थोड़े समय में आपने और भी कई एक शिष्य बनाए। और इस प्रकार अपने साथ काम करने वालों का एक दृढ़ समुदाय बना लिया।

एक दिन का वर्णन है स्वामी शंकराचार्य्य अपने शिष्यों को साथ लिये दोपहर के समय गंगा की ओर जा रहे थे रास्ते में उन्हें एक चांडाल मिला यह पुरुष चार कुत्तों को साथ लिये आ रहा था, शंकर स्वामी ने उसे एक ओर हो जाने को कहा। उस पुरुष ने उत्तर दिया। महाराज! शास्त्र तो उपदेश कर रहे हैं आत्मा एक है वह निर्दोष, असंग, अखंड और सच्चिदानन्द स्वरूप है क्या आप उस में भेद ख्याल करते हैं और मेरे निकट आने से डरते हैं। समय की चाल पर हैरानी आती है एक हाथ में दण्ड और दूसरे में कमण्डलु है। ज्ञान के गन्ध से रहित हो कर भी ज्ञानियों की बातें बना कर लोगों को धोखा दे रहे हैं। बताइये तो सही "दूर हट जा" कहने से आप मेरे देह को दूर हटाना चाहते हैं या आत्मा को? क्या अन्नमय (कोष) से अन्नमय भिन्न है? या साक्षी से साक्षी भिन्न है? पांच तत्वों का बना हुआ देह सब का एक सा है, और सब में एक आत्मा है, आत्मा में तो ब्राह्मण और चांडाल के भेद की दृष्टि किसी प्रकार नहीं आ सकती। प्रकट है गंगा जल और शराब में सूर्य की किरणों का कोई भेद नहीं। आप के मस्तिष्क में यह ख्याल क्यों कर आया कि आप तो एक पवित्र ब्राह्मण हैं और मैं चांडाल हूं। यह कच्चा ख्याल उसी समय आता है जब परिपूर्ण और अकाय परमात्मा को मनुष्य सर्वत्र विद्यमान नहीं देखता। संन्यासी हो कर आप अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, मंगलमय और निर्मल स्वरूप परमात्मा को भूल कर इस देह में अनुराग प्रकट कर रहे हैं। और यदि आप दिखाने के निमित्त मुझे पीछे हटाते हैं तो यह एक और भी अधिक हैरानी की बात है। ऐसी विद्या को आपने लाभ कर लिया

है जो मुक्ति के रास्ता पर ले जाने वाली है तौ भी लोकेषणा आप का अंचल पकड़े हुए है, आश्चर्य यदि आप जैसे महापुरुष लोक के प्रवाह के साथ बहे चले जा रहे हैं । तो फिर इस प्रवाह को कौन सीधे रास्ते की ओर ले जा सकता है ॥

इस सारी वक्तृता को सुन शंकर स्वामी कुछ देर तक चुप खड़े रहे और बड़े आश्चर्य के साथ बड़े उदार हृदय से बोले। आपने जो कुछ कहा है सत्य है अब मैं इस ख्याल को छोड़ता हूं, कि तू चाण्डाल है । नहीं, तू तो आत्मवेत्ता है। बहुत से पुरुष उपनिषदों को सुनते हैं । इन्द्रियों को जीत अपने चित्त को बार २ आत्मा में जोड़ते हैं तौ भी भेद उन के ख्याल से दूर नहीं होता। पर जो सदा परमात्मा में मग्न रहता है चाहे ब्राह्मण हो चाहे चांडाल, वह पूजने के योग्य है ॥

इस सम्मिलन ने शंकर स्वामी को अद्वैत मत की पुष्टि में कई एक पुस्तकों पर भाष्य लिखने के लिये प्रवृत्त कर दिया। उन्हों ने ख्याल किया कि जब तक दृढ़ युक्तियों से अपने मन्तव्य की पुष्टि और दूसरे मत मतान्तरों का खंडन न किया जाय, तब तक बौद्ध, जैन, और अन्यान्य मतों का वह मुकाबिला न कर सकेंगे, और उन्हें छिन्न भिन्न करने के लिये आवश्यक है पहले भास्कर, अभिनव गुप्त, नीलकण्ठ और मण्डन मिश्र प्रभृति अपने समय के विख्यात पण्डितों पर विजय लाभ किया जाए, और इन विद्वानों पर विजय लाभ करने के लिये आवश्यक है, अद्वैत मत की पुष्टि में कुछ भाष्य विद्यमान हों। इस अभिप्राय को पूरा करने के लिये शंकर स्वामी ने ऐसी जगह रहना चाहा, जो जल वायु की दृष्टि से और एकान्त देश होने के कारण से काशी की अपेक्षा उत्तम हो, ऐसी जगह

बदरीनारायण से बढ़ कर और कोई दृष्टि न आई । एकान्त देश में स्थित होने के अतिरिक्त यह स्थान वेदान्ताचार्य्य वेदव्यास आदि ऋषियों के आश्रमों का पवित्र स्थान होने के कारण प्रसिद्ध है । अतएव इस पवित्र स्थान ने शंकर स्वामी को अपनी ओर खींचा । बदरीनायण में पहुंच कर आपने ब्रह्म ऋषियों के साथ नए सिरे से उपनिषदों पर विचार किया और उन पर भाष्य लिखने का दृढ़ निश्चय कर लिया । इस जगह आपने पहले वेदान्त सूत्रों पर एक भाष्य लिखा । फिर उपनिषदों और महाभारत के एक हिस्से भगवद्गीता पर भाष्य किया। शंकर स्वामी ने गद्य और पद्य में और कई एक पुस्तक भी लिखे हैं,जैसे सन्त्सुजात भाष्य,उपदेश साहस्री,और हरि मीडे इत्यादि । यद्यपि इन सब पुस्तकों में वैराग्य और ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उच्च कक्षा के विचार पाए जाते हैं और वे सब के सब अपनी उपमा नहीं रखते,तथापि आप के पहले तीन भाष्य बहुत प्रसिद्ध हैं और यही आप के तीन प्रस्थान कहलाते हैं॥

प्रचार का काम

बदरीनारायण में ही शंकरस्वामीने इन भाष्योंको अपने शिष्यों को पढ़ाया, सनन्दन इसमें भी अपने दूसरे सारे सहाध्यायिओं से बढ़ गया। उसने इनके अर्थोंके समझनेके लिये अद्भुत नियमधारणकिये और वह बड़ेउत्साह और दृढ़ताके साथ उनके विचारमें तत्परहुआ।

इस शिष्य को शंकर स्वामी के साथ बड़ा प्रेम था और वे भी उस से बड़ा प्रेम किया करते थे, इस प्रेम के कारण से आपने लगातार तीन वार इस शिष्य को अपने ग्रन्थ पढ़ाए। गुरु की विशेष कृपा होने के कारण सनन्दन के सहाध्यायी उस के साथ ईर्षा और द्वेष रखते थे । पर उन की कोई पेश

न जाती। एक दिन का वर्णन है अभी वृष्टि हुए देर न हुई थी कि शंकर स्वामी एक नदी के वार थे और आप के शिष्य उसी नदी के पार इस समय अपना २ मन बहला रहे थे। वृष्टि समाप्त होने के पीछे यद्यपि आकाश निर्मल हो गया था पर फिर भी कहीं छोटे २ बादल दिखाई देते थे। पहाड़ों पर वृक्ष और हरि २ बूटियां अपनी पूरी हरियावल में लहलहा रही थीं और शीतल पवन के झोंकों से ये सब वृक्ष शां २ करते बता रहे थे कि हम को अभी कुदरत ने स्नान कराया है, मानो वृष्टि ने पहाड़ी की सैर और उस के दृश्य को ऐसा मनोहर बना रक्खा था कि यदि कोई उदास हृदय भी ऐसे समय पर वहां होता तो उसका जी भी इस जगह से उठने को न चाहता। निदान वृष्टि के कारण नदी का पानी भी कुछ बाढ़ पर था इस बाढ़ को देख कर शंकर स्वामी ने समझा कि सनन्दन की भक्ति की परीक्षा करने के लिये यह उत्तम अवसर है इस लिए पहले सनन्दन के बिना उन्होंने एक २ करके अपने सारे शिष्यों को कहा कि नदी के वार वे उनके पास आ जाएं, पर सब ने उत्तर दिया पानी बाढ़ पर है पार उतरना कठिन है। अन्ततः आपने सनन्दन को आवाज़ दी, बेटा! जल्दी मेरे पास आ जाओ। यह आज्ञा पानी ही थी कि सनन्दन नदी में यह कह कर कूद पड़ा "यदि गुरु भक्ति संसार सागर से पार उतार सकती है तो क्या वह इस नदी से पार नहीं करेगी?" नदी को पार कर सनन्दन ने अपने गुरु को आ प्रणाम किया। शंकर स्वामी इस शिष्य की अद्वितीय भक्ति से और भी दंग रह गए। उस को देख बड़े प्रसन्न हुए। उसे गले लगाया और पद्मपाद के नाम से भूषित किया। दूसरे शिष्य सनन्दन की इस आज्ञा-

पालन को देख कर आश्चर्य रह गए और उसी दिन से ईर्षा और द्वेष उनके अन्तःकरण पर से दूर हो गया। सच है उत्साह और साहस कौन सी कठिनता को सिद्ध नहीं कर देता? जहां काम करने की इच्छा होती है वहां सफलता हाथ जोड़े था सामने विद्यमान होती है। हृदय को दृढ़ता, विश्वास, उत्साह और साहस यदि महापुरुषों में न होते, तो वे अपने जीवन के उद्देश्य को कभी पूरा न कर सकते। उपनिषत्कार ने क्या सुन्दर कहा है "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" जिस की परमात्मा में परम भक्ति है और जैसी परमात्मा में है, वैसी गुरु में भक्ति है, उस महात्मा को यह कही हुई बातें प्रकाश पाती हैं॥ निदान थोड़े ही समय में बदरीनारायण के आस पास में भी शंकर स्वामी के पाण्डित्य की ख्याति फैल गई। उन्हों ने भी अद्वैत मत का प्रचार करना आरम्भ किया और इस कारण से विद्वत्ता की ख्याति के साथ आप का विरोध भी होने लगा। एक दिन का वर्णन है आप उपनिषद् पढ़ा रहे थे आप के पास पाशुपत मत के कुछ विद्वान् आ बैठे। आपस में कुछ बात चीत होती रही, पाशुपत मत वाले अद्वैत मत को अयौक्तिक और अपने मत को यौक्तिक सिद्ध करते थे, होते २ आपस में शास्त्रार्थ का निश्चय हुआ। शंकर स्वामी ने शास्त्रार्थ स्वीकार किया शास्त्रार्थ हुआ और पाशुपत मत वाले इस में पराजित हुए। उचित है * पाशुपत मत और शंकर स्वामी को प्रबल

---

*—इस मतवालों का मन्तव्य है—पशुपति अर्थात् ईश्वरने मोक्ष के लिये पांच पदार्थों का उपदेश किया है; (१)

युक्तियें दिखलाने के लिये हम इस जगह इस शास्त्रार्थ का प्रबल भाग लेख बद्ध करें ॥

पाशुपत-(१) "उसने (परमात्मा ने) सोचा और फिर इस जगत् को रचा" इत्यादि श्रुतियों में बताया गया है कि इस जगत् का कर्त्ता सोच विचार कर काम करने वाला है। और विचार कर काम करना निमित्त कारण में पाया जाता है, उपादान कारण में नहीं। जैसे राज सोच समझ कर घर बनाता है वह निमित्त कारण है, ईंटें उपादान कारण हैं। वे सोच विचार नहीं सकतीं और परमात्मा सोच समझ के जगत् को रचता है इस लिये वह निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं (२) क्रिया के कारक अनेक होते हैं, अकेले पदार्थ में कोई क्रिया नहीं होती, और न उससे कोई फल निकलता है। यही नियम परमात्मा पर भी घटता है, परमात्मा ने जगत् को उत्पन्न किया। जगत् क्रिया के बिना नहीं हो सकता इसलिये

कार्य (२) कारण, (३) योग, (४) विधि, और (५) दुःखान्त, इनकी व्याख्या वे इस प्रकार करते है (१) कार्य=उत्पत्ति वाली वस्तु महत्तत्वादि। (२) कारण=प्रकृति (३) योग=समाधि, (४) विधि=अर्थात् त्रिषवण स्नानादि। (५) दुःखान्त=मोक्ष। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, और ईश्वर निमित्त कारण है और जीवात्मा परमात्मा से एक अलग शक्ति है। जीवात्मा विभु हैं और गिनती में अनगिनत हैं। मुक्ति परमात्मा की भक्ति और ध्यान का फल है। मुक्ति में जीवात्मा के गुण परमात्मा जैसे हो जाते हैं क्योंकि परमात्मा के ध्यान से उस के गुण जीवात्मा में आप्रविष्ट होते हैं और वह गुणों में परमात्मा के बराबर बन जाता है।

परमात्मा अकेला नहीं किन्तु उसके साथ कुछ और भी विद्यमान है जिसको कि वह क्रिया-युक्त करता है और जिस का फल यह जगत् है (३) जिस प्रकार लौकिक राजा काम करने में निमित्त कारण हैं उनकी प्रजा और दूसरे साधन उपादान कारण, इसी प्रकार राजाओं का अधिराज परमेश्वर भी निमित्त कारण ही बन सकता है, उपादान कारण नहीं (४) यह जगत् सावयव, सचेतन और अशुद्ध है इस लिये इसका उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह निरवयव, चेतन और शुद्ध है। हम देखते हैं कि मट्टी से सोने के भूषण कभी नहीं बनते। इससे सिद्ध हुआ जैसा उपादान हो वैसा ही उसका कार्य्य होता है (५) यह भी देखने में आता है, इस जगत् में दुःख और मोह विद्यमान हैं। यदि यह माना जाय कि यह जगत् ब्रह्म से बना है तो मानना पड़ेगा कि प्रलय के समय यह अपने सारे दोषों समेत उसमें मिल जाएगा, और उसको भी दूषित कर देगा। इस लिये ब्रह्मको जगत् का उपादान कारण मानना ठीक नहीं। श्रुतियों में जिस जगह ब्रह्म को जगत् का कारण बताया है वहां निमित्त कारण से अभिप्राय है, उपादान कारण से नहीं।

शङ्कराचार्य्य--(१,२) ब्रह्मको निमित्त और प्रकृति को उपादान कारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि श्रुतियों की साक्षी इसके विरुद्ध है। छान्दोग्य में वर्णन आया है जिस समय श्वेत-केतु विद्याध्ययन के पीछे घर आया तो उसके पिता उद्दालकने उससे पूछा, "क्या तूने गुरुसे उपदेश लिया है, जिससे न सुना हुआ सुना जाता है न समझा हुआ समझा जाता है और न जाना हुआ जाना जाता है" अब यहां यतः ब्रह्म की ओर निर्देश

है, इस लिये स्फुट है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। यदि ब्रह्म को उपादान न माना जाय तो यह प्रतिज्ञा कि "जिस से न सुना हुआ सुना जाता है" विरुद्ध हो जायगी, क्योंकि उपादान के जानने से उसके सारे कार्य्य जाने जाते हैं जैसे लोहे को जानने से उससे बनी हुई सारी चीज़ों का ज्ञान हो जाता है, निमित्त कारण को जानने से उसकी बनाई सारी वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। जैसे लुहार के जानने से यह ज्ञान नहीं होता कि उसने कौन २ वस्तु बनाई हैं। और जिस लिये यह प्रतिज्ञा है कि ब्रह्म के जानने से सब वस्तु जानी जाती हैं इस लिये सिद्ध हुआ कि शेष सब वस्तु उसी से बनी हैं, वह उपादान कारण है। इसी लिये उस एकको जानने से सब कुछ जाना जाता है, जैसे लोहे के ज्ञान से लोहे की सारी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। और मट्टी के एक गोले से मट्टी की सारी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। मट्टी से बनी हुई वस्तुओं का व्यवहार के लिये अलग २ नाम रख लिया जाता है, वस्तुतः वह मट्टी ही है। घड़ा आदि सब नाम व्यवहार के लिये हैं, वस्तुतः इन सब का ज्ञान मट्टी के ज्ञान में ही आ जाता है। इसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान में सारे जगत् का ज्ञान आ जाता है। क्योंकि यह सब कुछ उसकी बनावट है। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म उपादान कारण है, जैसे मट्टी घड़े का उपादान कारण है। और वह निमित्त कारण इस लिये ठहरता है कि जगत् के बनाने में विना उसके और कोई अधिष्ठाता नहीं। इसमें श्रुति का प्रमाण है कि "उत्पत्ति से पहिले वही एक था और कुछ न था" यदि यह न माना जाय तो पिछली प्रतिज्ञा और दोनों दृष्टान्त विरुद्ध हो जाएंगे, जिस

अवस्था में उत्पत्ति के पहिले उसके विना और कोई न था तो वही उपादान और वही निमित्त कारण ठहरा (३) श्रुति में लिखा है "उसने इच्छा की कि मैं बहुत बन जाऊं" इस प्रमाण से परमात्मा ही कर्त्ता और उपादान माना जाता है क्योंकि इच्छा भी वही करता है और इच्छा भी यह करता है कि मैं बहुत बन जाऊं इससे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि वही निमित्त कारण है और वही उपादान। उपादान और उसके कार्य्य में अत्यन्त सादृश्यके होनेका कोई नियम नहीं क्योंकि हम देखते हैं गोबर से बिच्छू और गौर शरीर से अत्यन्त काले बाल उत्पन्न होते हैं। यदि उपादान और उपादेय एकही जैसे होते तो गोबर से बिच्छू और गौर शरीर से काले बाल उत्पन्न न होसकते। (४) कार्य के दोष कारण में नहीं आते, घड़ा जब मट्टी में मिलता है तो वह अपना कोई दोष मट्टी में नहीं ले जाता। इसी प्रकार यह जगत् प्रलय की अवस्था में अपने दोषों से ब्रह्म को दूषित नहीं कर सक्ता,(५) यह जड़ जगत् प्रलय में ही ब्रह्म से अभिन्न नहीं होता, किन्तु तीनों कालों में उससे अभिन्न है, देखो श्रुति में स्पष्ट लिखा है "यह सब कुछ ब्रह्म है" कारण कार्य से यद्यपि कभी अलग नहीं, तथापि ब्रह्म में उसका कोई दोष नहीं आता। जैसे मृगतृष्णा ऊपर देश को भिगो नहीं देती।

पाशुपत के प्रश्नों का इस प्रकार से उत्तर दे कर शङ्कर स्वामी ने उसके मत पर यह आक्षेप किये :—

ईश्वर का प्रकृति और पुरुष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि तुम तीनोंको व्यापक और तीनोंको निरवयव मानते हो,इसलिये उनका संयोग नहीं हो सकता। संयोग सावयव और परिछिन्न का सावयव और परिछिन्न के साथ हुआ

करता है जिस लिये यह तीनों तुम्हारे मत में निरवयव और अपरिछिन्न हैं,इस लिये इन का परस्पर संयोग नहीं हो सकता। और न समवाय वा कोई और सम्बन्ध हो सकता है,फिर यह किस तरह मिल कर काम करते हैं क्योंकि इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। और तुम्हारा यह मन्तव्य कि मुक्ति पशुपति (परमात्मा) के ध्यान से मिलती है, और इस में जीवात्मा परमात्मा जैसा हो जाता है असत्य है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो मुक्ति नाश वाली होगी। जो वस्तु उत्पत्ति वाली है वह कभी नित्य नहीं हो सकती। और तुम्हारा यह कहना कि मुक्ति की अवस्था में परमात्मा के गुण जीवात्मा में आ जाते हैं,युक्ति विरुद्ध है। क्योंकि गुण निरवयव हैं और निरवयव का कहीं आना जाना नहीं हो सकता। यदि यह कहो, गन्ध यद्यपि निरवयव है, तो भी वायु इसको दूसरी जगह ले जाता है, इसी प्रकार परमात्मा के गुण भी जीवात्मा में चले जाते हैं, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वायु फूलों के सूक्ष्म अवयवों को उड़ा कर ले जाता है उनके साथ गन्ध भी जाता है, कर्पूर का परिमाण घट जाने से अवयवों का उड़ना सिद्ध होता है। हां, एक प्रश्न हो सकता है—और वह यह, कि यदि कस्तूरी को बहुत से पर्दों में भी सुरक्षा के साथ रक्खा जाय तो भी उसका गन्ध चारों ओर फैल जाता है, पर उसके परिमाण में कोई कमी नहीं होती। इससे सिद्ध होता है केवल गन्ध ही चारों दिशाओं में फैलता है उस के अवयव नहीं। इसका उत्तर यह है, कि यदि मान भी लिया जाय निरवयव गुण दूसरे में चले जाते हैं तो फिर यह प्रश्न उत्पन्न होगा परमेश्वर के गुणों का कोई अंश मुक्त जीवों में जाता है

या सारे के सारे गुण। यदि एक अंश माना जाय तो फिर वही पहिला प्रश्न आ जाएगा कि निरवयव गुणों का कोई अंश नहीं हो सकता। इसी लिये वे दूसरी जगह पर नहीं आसकते। और यदि यह कहा जाय कि सारे के सारे गुण जीवात्मा में चले जाते हैं तो परमेश्वर में ज्ञान आदि कोई गुण भी न रहेगा और इन गुणों के न होने के कारण परमेश्वर जड़ बन जायगा। सच्ची बात तो यूं है—कस्तूरी के बहुत ही सूक्ष्म अवयव चारों ओर फैलते हैं केवल उसका गन्ध ही नहीं। जिस लिये वे अवयव बहुत सूक्ष्म होते हैं और हम स्थूल परिमाणों से कस्तूरीका परिमाण करते हैं इस लिये परिमाण में कोई भेद मालूम नहीं होता। पर वास्तवमें उसका परिमाण कम हो जाता है॥ कस्तूरी को कितने ही पर्दों में क्यों न रक्खा हो जितना उसके निकट होंगे उतना ही उसका गन्ध अधिक मालूम होगा और जितना ही दूर होंगे उतना ही कम। इसका कारण यह है, यदि दूरी पर हों तो उसके अवयव अधिक देश में फैलने के कारण निकट होने की अपेक्षा थोड़ा गन्ध देते हैं। यदि केवल गन्ध ही फैलता तो सब जगह एक सा मालूम होता, क्योंकि गुण का कोई अवयव नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कस्तूरी का गन्ध भी अवयवों के साथ मिल कर चारों ओर फैलता है।

इस प्रकार बहुत से प्रश्नोत्तर होते रहे। इनका सविस्तर वर्णन शारीरिक भाष्य में है, पर शङ्कर स्वामी की प्रबल युक्तियों के अभिमुख पाशुपत अपने मत को सिद्ध न कर सके। इसी प्रकार और भी कई एक विद्वानों ने आप के भाष्य पर आक्षेप किये पर इन सब आक्षेपों ने निर्बल करने की जगह

भाष्य को और भी युक्ति युक्त और विषय में परिपूर्ण बनाने में सहायता दी।

इस समय स्वामी शङ्कराचार्य्य को अपनी विद्वत्ता और शक्ति पर पूरा भरोसा होगया था। कई एक विद्वान् भी आप के साथ काम करने के लिये सम्मिलित हो चुके थे। अब उन्होंने अद्वैत मत के प्रचार और वेद विरुद्ध मतों के विध्वंस करने का निश्चय किया पर इस काम को आरम्भ करने से पहिले उन्हों ने उचित समझा कि उनके साथ ऐसे विद्वानों का एक समूह हो जाय कि जिन्होंने अपनी विद्वत्ता और तपश्चर्य्या के कारण देश में ख्याति लाभ की हो तो अत्युत्तम होगा। उस समय कुमारिल भट्टाचार्य्य अपने सारे गुणों के कारण देश में बड़ी ख्याति लाभ कर चुका था। और शङ्कर स्वामी ने योग्य समझा कि इस असाधारण पुरुष को अपने उद्देश्य का सहायक बनावें। इसी अभिप्राय से वे दक्षिण की ओर प्रस्थित हुए। परन्तु पूर्व इसके कि हम इस जीवनी के क्रम को आगे बढ़ाएं उचित प्रतीत होता है कि कुमारिल के कुछ वृतान्त अपने पाठकों के लिये लेख बद्ध करें, क्योंकि पहिले तो वे स्वामी शंकराचार्य्य के वृत्तान्तों से कुछ कम मनोहर नहीं और दूसरे देश के आचार और धर्म के संशोधन में वे वृत्तान्त शंकर स्वामी की जीवनी के साथ संबद्ध है॥

कुमारिल भट्टाचार्य्य॥

स्वामी शंकराचार्य की जीवनी से पाया जाता है कि जिस समय जैनमत आदि अपनी पूर्ण उन्नति पर थे उस समय विरोधी मतोंकी ओर से तो वेद और यज्ञों का अत्यन्त अपवाद हो रहा था। उन मतों के अनुयायी खुल्लमखुल्ला वर्ण आश्रमकी निन्दा करते थे।

वेद वचनों को जीविका मात्र बतलाते थे। सन्ध्या आदि नित्य कर्म्मों के करने वाला कोई न था। कापालिक मत के लोग भैरव के सामने द्विजों के सिर की बलि दे लोक मर्यादा को छिन्न भिन्न करते थे। विपत्ति के ऐसे समय में ब्राह्मणों ने भी उस के मुकाबिले के लिये विद्या लाभ की ओर अपने ध्यान को फेरा। देशके कई भागोंमें ऐसे ब्राह्मण पाए जाते थे जो तन मन से वेद और शास्त्रोंके अध्ययन में तत्पर थे। और उनकी हार्दिक इच्छा थी, कि अविद्या और अन्धकार की जगह विद्या और प्रकाशको मिले। ऐसे पुरुषों में देश के एक भाग में कुमारिल नामक एक पण्डित था। उसने ब्रह्मचर्य्य आश्रम के सारे नियमों को पूरा कर के शास्त्र पढ़े थे। वेदों के अर्थोंकी मीमांसा कर उनके तात्पर्य्य को समझा था। और अपनी विद्या और कर्म काण्ड को नए सिरे से स्थिर करनेके प्रयत्न करने के कारण उसका नाम भट्टपाद और सुब्रह्मण्य प्रसिद्ध होगया था। इस पुरुष ने बड़े उत्साह के साथ प्रचार का काम आरम्भ किया। आर्षग्रन्थों के सूक्ष्म सिद्धान्तों को वह भलीभान्ति लोगोंके हृदयगत करता। पर बौद्ध और जैन मतों के धर्म पुस्तकों से अनभिज्ञ होने के कारण वह बहुधा उनका खण्डन रुचि भर न कर सकता। इस त्रुटि को पूरा करने के लिये वह विद्यार्थी बन बौद्धों की पाठशाला में जा प्रविष्ट हुआ और एक योग्य और होनहार विद्यार्थी की नांई उसने इस पाठशालामें बड़ी सावधानी के साथ उन के सिद्धान्तों को पढ़ा और सुना। एक दिन का वर्णन है, कुमारिल के गुरु ने वेदों पर दोष लगा वैदिक मार्ग को कुमार्ग सिद्ध किया। कुमारिल इस अपवाद को सुन अपने आपको

रोक न सका, उसकी आंखों में आंसू भर आए। दूसरे विद्यार्थी इस बात को ताड़ गए और उस समय से कुमारिल एक संदिग्ध पुरुष समझा जाने लगा। वे समझ गए यह वास्तव में ब्राह्मण है, हमारा शत्रु होकर भी इसने हमारे सारे दर्शनों को समझ लिया है। इन विद्यार्थियों ने अब कुमारिल को अपनी शाला से निकालने की कुछ तजवीज़ सोची। एक दिन कुमारिल एक ऊंचे मन्दिर की दीवार पर बैठा हुआ कुछ सोच रहा था कि इन अहिंसा अहिंसा पुकारने वालोंने उसे धक्का दे दिया। कुमारिल भूमि पर आ पड़ा। गिरते समय उसके मुख से ये शब्द निकले "श्रुति अपने शरणागतों के दुःखों को क्या नहीं काटती है? यदि वेद प्रमाण हैं तो मैं अवश्य जीता रहूंगा?"। ये शब्द प्रकट करते हैं, कुमारिल को वेदों पर कितना गहरा विश्वास था। पर इस चोट से उसकी एक आंख बैठ गई। वेदों का भक्त अपनी एक आंख के बैठ जाने को अपने कर्मों का फल बतलाता था। वह कहता था कि मैंने अपने आपको बिना प्रकट किये बौद्धों से उनके दर्शन पढ़े हैं। इस लिये मुझे उसका फल मिल गया हैं। पर जिस कारण वेदों की रक्षा के लिये मैंने यह सारा काम किया है, इस लिये वह शक्ति मुझ में विद्यमान है, जिससे वेदों की रक्षा कर सकता हूं। अर्थात् कुमारिल का पक्का विश्वास था कि बहाने से पढ़ने का प्रायश्चित्त परमात्मा ने उससे करा दिया है॥

इस प्रकार बौद्धमत और जैनमतके पुस्तकोंको पढ़ कर, कुमारिल ने देश के एक भाग में वेदप्रचार का काम करना आरम्भ किया। बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करके उनको इस विद्यानिधि ने अत्यन्त पराजित किया और जैमिनि मुनि के

शास्त्र का आश्रय लेकर, कर्म को इसने फैलाना आरम्भ किया। इस प्रकार बौद्ध और जैनमत वालों से शास्त्रार्थ करता और कर्मकाण्ड का प्रचार करता हुआ कुमारिल भट्टाचार्य्य सुधन्वा राजा के पास पहुंचा। उस राजा की सभा में बहुत से विद्वान् विद्यमान थे और राजा स्वयं भी अपने समय के विद्वानों में गिना जाता था। मन्तव्य की दृष्टि से यह राजा बौद्धधर्म का अनुयायी था। कुमारिल की विद्या को सुन कर उसने इस भट्टपाद को बड़े आदर के साथ अपनी सभा के विद्वानों में जगह दी। कुमारिल को इस सभा में प्रतिष्ठा लाभ किये कोई बहुत समय नहीं हुआ था कि एक दिन पण्डितों की सभा लगी हुई थी। राजा भी स्वयं उसमें विराजमान् थे कि आम के वृक्ष पर से एक कोइल बोली, कुमारिल ने इस स्वर को सुन कर अपने पाण्डित्य का प्रकाश करने के सिवा राजा को इस श्लोक से उपदेश किया :—

मलिनैश्चेन्न सङ्गस्ते नीचैः काककुलैः पिक।
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः॥

अर्थात् हे कोइल! श्रुति को पीड़ा देने वाली आवाज़वाले मलिन और नीच कौओं के साथ यदि तेरा सङ्ग न हो, तो तू प्रशंसनीय हो।

इस श्लोक का एक सीधा साधा अभिप्राय तो यह है कि यदि कोइल का कौओं के साथ मिलाप न हो तो वह बड़ी उत्तम मालूम हो। और दूसरा तात्पर्य्य यह कि जिसको लक्ष्य में रख कर कुमारिल ने यह श्लोक बोला था, कि हे राजन्! यदि तू श्रुति की निन्दा करने वालों के मत में न होता तो

प्रशंसनीय था। इस श्लोक को सुनते ही बौद्धमत के विद्वानों के दिलों पर एक विशेष चोट लगी। क्रोध के मारे उन के चेहरे लाल हो गए। उनकी आंखों से आग बरसने लगी। वैदिक धर्म को अप्रामाणिक सिद्ध करने की इच्छा से उन्हों ने इस पर बड़े प्रबल आक्षेप किये, पर कुमारिल ने बड़ी विद्वत्ता और आसानी के साथ उन के युक्तियुक्त उत्तर दिये। कुमारिल भट्टाचार्य्य के युक्ति युक्त उत्तरों ने राजा के मन पर एक विशेष प्रभाव जमाया। राजा ने कुमारिल का बौद्धमत के अनुयायियों के साथ शास्त्रार्थ नियत किया। इसी प्रयोजन से देश के दूर दूर स्थानों से विद्वान् बुलाए गए। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। बौद्धमत वाले अपने पक्ष का मण्डन और वैदिक धर्म का खण्डन करते थे। कुमारिल उसके विरुद्ध वेदों का मण्डन और बौद्ध मत का खण्डन करता था। कई दिनों तक शास्त्रार्थ होता रहा। दोनों पक्षों ने अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया। वेदों के विरुद्ध जो २ आक्षेप किये गये उनका सन्तोष दायक उत्तर दिया गया और वे सबके सब आक्षेप निकम्मे और वेदों के तात्पर्य्यके न समझने को सिद्ध करने वाले ठहरे। बौद्धमत पर कुमारिल ने वे २ प्रबल आक्षेप किये जो इस से पहिले किसी ने न किये थे। पर इनका कोई उत्तर विरोधियों से न बन पड़ा। इस शास्त्रार्थ में कुमारिल ने विजय पाया और राजा का आदर वेदों की ओर बढ़ने लगा। पर यह धर्म का विषय ऐसा नहीं होता कि इसमें जल्दी को काम में लाया जाए। इस लिये राजा ने उचित समझा कि देश के चुने हुए विद्वानों को बुला कर एक और शास्त्रार्थ कराया जाए। सो बौद्ध मत के चुने २ विद्वान् बुलाए गए, एक और शास्त्रार्थ हुआ। पर इस

में भी बौद्धमत के अनुयायी बराबरी का तेज न ला सके। इस शास्त्रार्थ की समाप्ति पर राजा सुधन्वा को वेदों की सचाई पर कोई सन्देह न रहा। वह कुमारिल का शिष्य बन कर वैदिक धर्म का अनुयायी बना। कुमारिलने राजा को वैदिक धर्मका उपदेश कर उनके हृदय में उनके गौरव को बड़े जोर के साथ बिठाया और अपने प्रचार के काम में अब अधिक उत्साह के साथ तत्पर हुआ॥

कुमारिल अपने समय का एक अद्वितीय विद्वान् था, वह बौद्धमत और आर्य्यधर्मसे पूरा परिचित होने के सिवाय उनके दर्शनोंसे भी पूरा अभिज्ञ था। इन सब गुणोंके सिवा उस में एक बड़ा गुण यह था, कि वेदों की सचाई पर उसको ऐसा पूर्ण विश्वास था जैसा अपने अस्तित्व पर। उसका विश्वास था कि इस सारे विश्व को, मुझे और वेदों को एक ही परम कारण ने जन्म दिया है। जिस प्रकार जीवन को स्थिर रखने और उस की रक्षा के लिये जगत् में आहार का प्रबन्ध उस पालन करने हारे ने कर दिया है। इसी प्रकार आत्मा की रक्षा और उन्नति के लिये उस परब्रह्म परमात्मा ने पहिले ही से उसके आहार का भी उचित प्रबन्ध कर दिया है। और वह आहार वैदिक धर्म पर आचरण है। इस लिये वह वैदिक जीवन को आत्मिकजीवन समझ अपने प्राणों से अधिक प्यार करता था। और शुष्कतर्क की अपेक्षा सचाई और पवित्र जीवन से उसे अधिक प्रीति थी।

कुमारिल ने जैमिनि के मीमांसा शास्त्र पर वार्तिक लिखे। आश्वलायन गृह्यसूत्रों पर वार्तिक रचे। और बहुत से अलङ्कारों को जो शास्त्रों में आते हैं बड़ी विद्वत्ता के साथ

स्पष्ट किया। जैसे इन्द्र और अहल्या की कथा को उन्हों ने इस प्रकार वर्णन किया कि इन्द्र सूर्य्य का नाम है और अहल्या रात्रिका। इन्द्र अहल्या का जार इसी लिये है कि वह इस को जीर्ण करता है अर्थात् इसको दूर करता है, इस लिये जार नहीं कि व्यभिचार करता है ॥

कुमारिल का पवित्र जीवन और सत्‌शास्त्रों पर पूर्ण विश्वास उनके जीवन के अन्तिम भाग से बड़ा स्पष्ट और बल के साथ प्रतीत होता है। जिस समय शंकर स्वामी अपने शिष्यों समेत प्रयाग में पहुंच गंगाके किनारे पर ठहरे और स्नान से निवृत्त हो चुके, तो उनको यह शोकदायक समाचार दिया गया कि वह पुरुष जिसने वेदों के उद्धार के अर्थ बड़े २ क्लेश उठाए और जिसने वेदों के गौरव को नए सिरे स्थिर किया, हां,वह कुमारिल जिस के पुरुषार्थ से देवताओं को पुराने यज्ञों के फिर भाग मिलने लगे, वह सुब्रह्मण्य वेदों के सूक्ष्म विषयों को विचारने और सिद्धान्त स्थिर करने वाला प्रसन्नता से एक प्रायश्चित्त करने के निमित्त तुष (चावलों के छिलके) की आग में जलने लगा है। इस बात को सुन कर शंकर स्वामी को बहुत शोक हुआ। उनकी सारी आशाएं निराशता में बदल गईं। मार्गकी थकावट और विश्रामका ख्याल न रहा। इस भयानक समाचार के सुनते ही वे उस ओर प्रस्थित हुए, जहां कुमारिल प्रायश्चित्त करने के लिये बैठ गये थे.। उनके वहां पहुंचने से पहिले तुषों को आग दी गई थी, जो धुक २ कर धीरे २ जल रही थी और इस अग्नि के बीच अपने समय का वेदों का उद्धार करने वाला बड़ी शान्तिके साथ बैठा था। कुमारिलकी इस शुद्धता को देख, शंकर स्वामी के जीवन ने एक और पलटा

खाया। वे कुमारिल को देख कर कहते थे, आश्चर्य धैर्य्य आश्चर्य श्रद्धा आश्चर्य जीवन है। हे सुब्रह्मण्य! तूने वेदों की मीमांसा की, कुमार्ग से हटा कर सुमार्ग की ओर तू लोगों को लाया, तेरे जैसा वेदों के अर्थों को जानने वाला और कौन होगा? धन्य है तू हे सुब्रह्मण्य! धन्य है तू! तेरी ख्याति का डंका चारों दिशाओं में वज रहा है। वेदों का उद्धार करना तेरा ही काम था। शास्त्रों पर इतनी श्रद्धा तुझ ही में देखी है॥

इधर शंकर स्वामी के मन में कुमारिल की भक्ति और विश्वास के सम्बन्ध में वे विचार उत्पन्न हो रहे थे कि जिनका वर्णन ऊपर किया गया है और उधर दूसरी ओर वे देखते थे कुमारिल के चेहरे पर एक अद्भुत तेज चमक रहा है। वे बड़ी शान्ति और सहिष्णुता के साथ प्रायश्चित्त कर रहे हैं। उनके शिष्य और मित्र अग्नि के चारों ओर खड़े फूट २ कर रो रहे हैं। शंकर स्वामी भी इन लोगों के साथ शोक में सम्मिलित हुए। पर अपने आपको वश में कर उन्हों ने वहुत जल्द कुमारिल की ओर प्रवृत्त हो अपने मनोरथ को प्रकाशित किया। कुमारिल ने यद्यपि शंकरस्वामी को पहिले नहीं देखा था पर उनकी ख्याति उनके कानों तक पहुंच चुकी थी। जव उन्हों ने देखा कि शंकर स्वामी इस समय मेरे पास खड़े हैं तो वे वड़े प्रसन्न हुए। उनकी और उनके शिष्यों की अतिथिपूजा की। शंकर स्वामी ने कुमारिल को अपना भाष्य दिखाया जिसे देख वे वहुत प्रसन्न हुए और कहा जगत् में क्षुद्र पुरुष ईर्षा किया करते हैं, पर वुद्धिमान् इस क्षुद्रता में नहीं गिरते। यदि अनुचित न माना जाए तो मैं कह सकता हूं, कि मैं अध्यास भाष्य पर ८ हज़ार वार्तिक लिख सकता हूं। अस्तु आप जैसे विद्वानों

का दर्शन करना लोक में बहुत ही दुर्लभ है और विशेष कर ऐसे समयमें जबकि मैं प्रायश्चित्त कर रहा हूं। यह मेरे अहो भाग्य हैं कि आपने ऐसे समय पर दर्शन देकर कृतार्थ किया। आप जैसे महात्माओं की संगति जीवन को पलटा देती है मुझे चिरकाल से आप के दर्शन की अभिलाषा थी। शुकर है कि आज मेरे जीवन के अन्तिम समय पर वह इच्छा पूरी हुई। मैंने वैदिक कर्म्मों पर व्याख्या लिखी है कर्म्मों के मार्ग को शोधन किया है और बौद्धों के आक्षेपों का जो वे वेदों पर किया करते थे युक्ति युक्त उत्तर दिया है। मैंने लोक के सुख भोग लिये हैं अब मुझमें यह शक्ति नहीं इस वर्तमान प्रायश्चित के समय को टाल सकूं। शङ्कर स्वामी ने इस प्रायश्चित का कारण पूछा तो उस ने उत्तर दिया। हे विद्वन्! यह सारा देश बौद्धों ने घेर लिया था। वेदों के गौरव को लोगों के दिलों से दूर कर दिया था। बौद्धमत राजाओं के घरों में अपना अधिकार जमा चुका था। सत शास्त्रों की निन्दा हो रही थी। बौद्धमत वाले निःशंक कहते थे। राज्य हमारा है, मैदान हमरा है, हमारे धर्म का आदर करो, वेद प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि उन की शिक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध है और उन में परस्पर विरोध है। मैंने इस कुशिक्षा का प्रत्यवरोध किया, पर इस में पूरा सफल न हो सका, क्योंकि मुझे उनके सिद्धान्तों से पूरा ज्ञान न था, इसलिये यद्यपि मैं उनके आक्षेपों का उत्तर देता, पर उन पर कोई प्रबल आक्षेप न कर सका और बहुधा घबरा जाता। इस प्रकार उन के मत का खण्डन करते हुए मेरे पक्ष में कोई विशेष फल न निकलता। इस त्रुटि को पूरा करने के लिये मैंने उन की पाठशालाओं का विद्यार्थी बन उनके दर्शनों को पढ़ा। और

फिर उस ने अपनी आंख फूट जाने का भी सारा वृत्तान्त सुनाया और कहा मैं जानता हूं एक शब्द का उपदेश करने वाला गुरु होता है। जिस लिये मैंने बौद्ध और जैन मत वालों से विद्या लाभ करके उसके बदले उनका खण्डन किया है इसलिये शास्त्र की मर्य्यादा के अनुसार मानो मैंने गुरुकुल का विरोध किया है और उसका प्रायश्चित्त यह है कि मैं तुष की आग में अपने आप को जला दूं जिस से अपने पाप की निष्कृति हो जाने से दूसरे जन्म में पाप का भागी न बनूं। इस प्रायश्चित्त करने के लिये मैं अब इस आग में बैठा हूं यह सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है कि आप भी वेदों की रक्षा के लिये तत्पर हुए हैं। आप के दर्शनों से मैं बहुत ही आनन्दित हुआ हूं। शङ्कर स्वामी ने उत्तर दिया कि आपने वेदों की रक्षा के लिये ये सब काम किये इसलिए आप ने कोई पाप नहीं किया। आप अपने व्रत को पूरा करें और मेरे साथ मिल के देश और धर्म्म का उद्धार करें। पातकी मनुष्यों के लिये आप जैसे महापुरुषों का दर्शन ही पातक का प्रायश्चित्त है। जिन्हों ने टूटी हुई धर्म्म की मर्यादा को नए सिरे स्थिर किया। भला उन के लिये प्रायश्चित्त कैसे हो सक्ता है? आपने अपने गुरु के विरुद्ध कोई काम नहीं किया, वरञ्च आपने तो अविद्या और अन्धकार को दूर किया है और भूले भटके पुरुषों को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त किया है। आप का यह सारा काम धर्म के अनुसार है। कौन इस को पातकों की श्रेणि में गिन सक्ता है? आप के जीवन का एक २ श्वास देशके लिये कल्याणकारी है। आप इस प्रायश्चित्त के विचार को छोड़ें और मेरे साथ इस धर्मकार्य्य में हिस्सा लें। मेरे भाष्य पर वार्तिक रचें। कुमारिल ने उत्तर दिया आपका यह आदर आपके गौरव अ

विद्वत्ता को प्रकट करता है। बड़ों की रीति है वे दूसरों के छोटे से गुण को भी बड़ा समझा करते हैं। मुझे भी धर्म की मर्य्यादा पर स्थिर रहना बड़ा प्यारा है मैं अपने विचार को बदल नहीं सक्ता। यह मेरा निर्णय, मेरा निर्णय नहीं अपितु शास्त्र का निर्णय है और इस का उल्लंघन करना मुझे कदापि सह्य नहीं। यदि आप वैदिक धर्म का प्रचार करना और बौद्धों को पराजित करना चाहते हैं तो मण्डनमिश्र को अपने साथ काम करने के लिये मिलायें। उस को साथ करने से आप सारे जगत् पर विजय लाभ कर सकें गे। वह विश्वरूप नाम से प्रख्यात है,गृहस्थ है,वैदिक कर्मों में लगा हुआ है,पर निवृत्ति शास्त्र पर उस का विश्वास नहीं। आप सब से पहिले उस के पास पधारिये। वह सारे शास्त्रों का वेत्ता और मेरा सब से योग्य शिष्य है। मुझे भी उस के साथ बड़ी प्रीति है। आप जाकर उस के साथ शास्त्रार्थ करें और उस को अपने मत में लाएं। उस की पत्नी बड़ी विदुषी है इस शास्त्रार्थ में उस को मध्यस्थ ठहराएं,वह धार्मिक स्त्री किसी का पक्षपात नहीं करे गी और सचाई के पक्ष में निर्णय दे गी। यदि वह आपके वश आ गया तो वह आप के भाष्य पर बड़े उत्तम वार्तिक रचे गा। पर जब तक मेरा देह भस्म न हो जाए आप मेरे सामने खड़े रहें, मुझे आप से बड़ी प्रीति है, क्योंकि आपने वेदों के उद्धार का झंडा खड़ा किया है॥

इतनी वक्तृता के पीछे दोनों चुप हो गए। तुष की आग प्रतिक्षण अधिक तीव्र हुई जाती थी और अब उसकी पहुंच कुमारिल के शरीर तक भी हो गई थी। इस आग ने धीरे २ इस पवित्र ब्राह्मण के शरीर को भस्मीभूत करना आरम्भ किया। उसके

शिष्य और प्रेमी भक्त सब पास खड़े इस दृश्य को देख ज़ार २ रो रहे थे। और वे हृदय को वश किस प्रकार रख सक्ते थे? यह तो एक ऐसा वृत्तान्त है कि जिस को सुन कर कोई पत्थर हृदय पुरुष क्यों न हो फूट २ कर रोए विना नहीं रह सक्ता? और धर्म के निमित्त यह वलिदान भी एक ऐसा वलिदान है जो कि जगत् में अपनी उपमा नहीं रखता। जगत् में वहुत पुरुषों ने अपने २ विश्वास के प्रचार में प्राण दिये हैं पर उन में यह सहिष्णुता, यह धैर्य्य और यह वीरता कहां? ऐसा कोई उदाहरण नहीं पाया जाता जो कुमारिल के सदृश हो। जाति का सुधार करने वालों को अत्याचारियों ने अपने वल से पकड़ा। उन्हें मारा, आग में जलाया, सूली पर खींचा, ज़हर दी। इस मौत के प्याले को वहुत ही कम लोगों ने खुशी २ पिया। पर ऐसा कुमारिल के विना और कोई पुरुष नहीं जिस ने धर्म के निमित्त स्वयं ऐसा प्रायश्चित्त किया हो॥

निदान इस भयानक दृश्य को देख कर जितने आदमी पास खड़े थे वे सवके सव फूट२ कर रोते और हिचकियां लेते थे। किसी में यह शक्ति न थी कि एक दूसरे को शान्ति दे, और न ही कोई एक दूसरे की ओर देख सक्ता था। हां उस समय एक कुमारिल ही था जो सवको रोता हुआ देखता था पर आप शान्त चित्त हुए परमात्मा के ध्यान में मग्न था, क्योंकि वह समझता था मैंने अपने जीवन के उद्देश को पूरा कर लिया है। वह अपनी ओर मृत्यु को आता हुआ नहीं देखता था, अपितु उस को पूरा विश्वास था कि मैं शाश्वत जीवन की ओर जा रहा हूं। इसी आनन्द में वह ऐसा मग्न हुआ था मानो

वह आग को आग नहीं समझता था, किन्तु वह समझता था मैं दुःख दूर करने वाली माता की गोद में बैठा हूं और सच्चे विश्वास के यज्ञ में अपने आप को हवन कर रहा हूं। मानो उसका धर्म जीवन के आकाश में चारों दिशाओं में विश्वास के पवित्र गन्ध को फैला रहा था और उस का अन्तिम जीवन आस पास में बहुत से आत्माओं को पलटा दे रहा था।

—(:०:)—

मण्डन मिश्र और सरस्वती।

मण्डन मिश्र के वंश के वृत्तान्त का तो कुछ पता नहीं मिलता। उसके अपने विषय में भी इस से कुछ अधिक विदित नहीं कि वह कुमारिल भट्टाचार्य्य के योग्य शिष्यों में से एक ऐसा योग्य और होनहार शिष्य था कि जिसकी विद्या की ख्याति सारे आस पास में फैली हुई थी। उसका अपना असली नाम विश्वरूप था पर शास्त्रार्थ में एक अद्वितीय विद्वान् होने के कारण उसे मण्डन मिश्र के नाम से लोक पुकारा करते थे॥

पटना प्रान्त में शोणनद के किनारे किसी एक गाओं में विष्णुमित्र नामी एक ब्राह्मण रहता था। उसके घर एक लड़की थी जिसका नाम उसने सरस्वती रक्खा हुआ था। यह लड़की बचपन ही से बड़ी बुद्धिमती और समझवाली प्रतीत होती थी। उस के पिता ने बड़े प्रेम और श्रम से उस लड़की को शास्त्रों का अभ्यास कराया। लड़कीने भी छोटी सी आयु में ही गणित और इतिहासों के बिना पट् शास्त्रों और वेदों का उन के अङ्ग और उपांगों के साथ अभ्यास किया। निदान कवि का कथन है विद्या की कोई शाखा ऐसी न थी जिसमें कि सरस्वती की थोड़ी बहुत पहुंच न थी और इसी कारण से

वह अपने प्रान्त में एक अद्वितीय विदुषी गिनी जाती थी और लोग उसे उभयभारती (अर्थात् नाम और गुण दोनों की अपेक्षा से सरस्वती अर्थात् विद्या की देवी) नाम से नामांकित करते थे ॥

कहावत है,जौहरी की कदर जोहरी जानता है। मण्डन मिश्र की विद्या का चर्चा जब सरस्वती के कानों तक पहुंचा तो उसे उसके मिलनेकी बड़ी रुचि हुई और उधर जब सरस्वती की विद्वत्ता की खबर मण्डनमिश्र को हुई तो वह भी उससे मिलने का बड़ा अनुरागी हुआ। दोनों की विद्या ख्याति ने दिन-प्रतिदिन दोनों ओर से इस अनुराग को बढ़ाया और होते २ दोनों को यह इच्छा हुई कि मेरा उस से सदा का सम्बन्ध हो। दोनों ओर इस प्रेम की चंगाड़ी ने इतना बल दिखाया कि उधर तो सरस्वती ने और इधर मण्डनमिश्र ने खाना पीना छोड़ दिया और वे दोनों आए दिन दुर्वल होने लगे। पर मारे लज्जा के कोई अपने दिल के भेद को किसी पर प्रकट न करता। विश्वरूप के पिता ने अपने बेटे की इस दशा को देख कर एक दिन उसे उसके दुर्वल होने का कारण पूछते हुए कहा। बेटा! सच बता, क्या कारण है; कि तू प्रतिदिन दुर्वल हुए चला जाता है ? तेरा मन पहिले की सी सारी उमंगों से खाली मालूम देता है। क्या तुझे किसी प्रकार का रोग है या किसी प्रकार का कोई विशेष क्लेश है कि जिस का कारण तू वर्णन करना नहीं चाहता। मनुष्य को जगत् में दो ही प्रकार का दुःख होता है. एक तो किसी इष्ट वस्तु के वियोग से और दूसरा किसी ऐसी वस्तु के संयोग से जो उसकी रुचि के विरुद्ध हो। परमेश्वर की कृपा से घरमें

खाने पीने की सारी सामग्री विद्यमान है, हम निर्धन भी नहीं कि कुटुम्ब के पालन का बोझ तुझ पर डाला गया हो और तू अपने आपको इसके उठाने के अयोग्य समझ कर मारे चिन्ता के दिन प्रतिदिन दुर्बल हुआ जाता हो? विद्याकी त्रुटि भी तेरे दुर्बल होने का कारण नहीं और न आज तक तू शास्त्रार्थ में किसी से पराजित हुआ है। योग्य और विद्वानों में तेरा पद सब से बढ़ कर है। फिर जन्म से ही तू वेदोक्त कर्म करता चला आया है और किसी पाप कर्म का ख्याल तुझे स्वप्न में भी नहीं आया कि जिसका पश्चात्ताप तुझे दुर्बल बनारहा हो। फिर तुझे प्रतिदिन दुर्बल देखना इन दो कारणों से खाली नहीं हो सकता, एक तो यह कि तुझसे किसी ऐसी वस्तु का वियोग हुआ है जो तुझे बहुत प्यारी है अथवा किसी ऐसी वस्तु के संयोग की अभिलाषा है जो तेरे मनको बहुत भाती है और तू मारे लज्जा के उस का वर्णन करना नहीं चाहता॥

पिता की इस सारी वक्तृता को सुन कर विश्वरूप ने सरलता से सिर नीचे करके विनती की कि आप की आज्ञा को पाकर मैं अपने मनकी बात को छिपा नहीं सकता अन्यथा जो कुछ मैंने कहना है वह प्रकाश करने योग्य नहीं और इसी लिये उसके प्रकट करने से मुझे लज्जा आती है। यह कह कर उसने सरस्वती की विद्या का वृत्तान्त कह सुनाया और फिर चुप हो गया। पिता ने पुत्र के हृदय के भावको जान लिया और दो ब्राह्मणों को अपनी प्रयोजन सिद्धि के लिये विष्णु-मित्र के घर भेजा। सरस्वती के पिताने उन ब्राह्मणों का समुचित आतिथ्य करने के पीछे उन के आने का कारण पूछा। ब्राह्मणों ने अपने आने का प्रयोजन प्रकट करके कहा कि वंश

विद्या और उदारता की अपेक्षासे आप विश्वरूप के वंश के बराबर हैं। लड़का अपने समय का एक अद्वितीय विद्वान् है और इसी प्रकार सरस्वती भी अद्वितीय विदुषी है। दोनों विद्या-वानों का आपस में ब्याहा जाना बहुत समुचित है॥

सरस्वती के पिता ने अपने दिल में तो इस बात को पसन्द किया, पर उन को यह उत्तर दिया कि मैं सरस्वती की माता के साथ विचार किये बिना कोई उत्तर नहीं दे सकता। यह कह कर विष्णुमित्र अपने घर के अन्दर गया। और उसने अपनी धर्मपत्नी को इन ब्राह्मणों के आने का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सरस्वती की माता ने उत्तर दिया। आर्य्य पुत्र! लड़के के दूर होने के कारण मुझे उस के वंश के वृत्तान्त विद्या, अवस्था, शाखा और धर्म से पूरा परिचय नहीं। शास्त्र की आज्ञा है वंश, स्वभाव, आयु, आकृति, विद्या और धन को देख और बन्धुओं और उस के अपने गुणों की जांच पड़ताल के पीछे कन्या का सम्बन्ध करना चाहिये। जिस अवस्था में मैं इन सारी बातों से सर्वथा अनभिज्ञ हूं तो किस प्रकार सलाह दे सकती हूं? विष्णुमित्र ने कहा कि है तो आप का कहना ठीक, पर यह कोई सार्वभौम नियम नहीं। कुण्डन देश के राजा भीष्म ने तीर्थ के बहाने फिरते हुए कुशस्थल के राजा श्रीकृष्ण को बिना परीक्षा रुक्मिणी विवाह दी थी। इससे यह अभिप्राय है कि ऐसे वर जो अपनी योग्यता और गुणों की अपेक्षा से अपने समय में अद्वितीय हों वे ऐसी २ परीक्षाओं से पृथक् गिने जाते हैं। शायद तुम्हें यह मालूम नहीं कि विश्वरूप उस भट्टपाद का प्यारा शिष्य है, जिस ने बौद्धों पर विजय लाभ करके वैदिक धर्म को नए सिरे

स्थापन किया है। ब्राह्मणों में विद्या के धन का आदर है, न कि सोने चान्दी का । और विश्वरूप इस धन में अपने सदृश कोई नहीं रखता। इस के बिना वह राजकीय पण्डित है इस लिये सोने चांदी की भी उस के घर कोई परवाह नहीं। पर हां, इस विषय में उचित है, हम सरस्वती पर विदित कर दें और यह कह वे दोनों सरस्वती के पास गए और उसे अपने आने का अभिप्राय कह सुनाया । सरस्वती ने मारे लज्जा के कोई उत्तर तो न दिया, पर इस मनोवाञ्छित बात को सुन कर उस का चेहरा कमल सा खिल गया और किसी बहाने से वह वहां से उठ बाहर चली आई। मानो उस के चेहरे का खिल जाना और उस का ख़ुशी २ अपने माता पिता के पास से उठ कर बाहर चला जाना इस प्रश्न का उत्तर था कि मेरी प्रसन्नता आप की प्रसन्नता के साथ है। जहां चाहें माता पिता अपनी कन्या को विवाह दें उसे अस्वीकार नहीं होता और यह सम्बन्ध तो ऐसा है जिसे हज़ार जान से चाहती हूं । फिर इस में इतस्ततः क्या कर सकती हूं। निदान इस प्रकार विष्णुमित्र ने सरस्वती का हृदय समझ कर उस के विवाह की तय्यारी करदी और उन्हीं दो ब्राह्मणों के साथ शकुन शकून की रीति पूरा करने और विवाह की नियत तिथि से सूचना देने के लिये एक अपना ब्राह्मण विश्वरूप के घर भेजा। नियत तिथि पर बरात आई। विष्णुमित्र ने उन का समुचित आदर किया। बरातियों को नाना प्रकार के खाने खिलाए। विवाह की रीति पूर्ण की गई । गृह्योक्त मार्ग से अग्नि स्थापन करके विश्वरूप ने उस में हवन किया और वधू ने लाजा होम किया। हवन की समाप्ति पर विश्वरूप ने दीक्षा लेकर अग्नि को स्थापन

कर चार दिन अपनी धर्मपत्नी के साथ अभ्यागार में निवास किया। विदा करते समय सरस्वती के माता पिता ने कहा, हमारे घर केवल यही एक लड़की है जो बड़े लाड़ चाव के साथ पाली गई है। इस की प्रकृति में बचपन अधिक है इस लिये यदि इस से कोई अपराध हो तो आशा है आप क्षमा करेंगे। और फिर सरस्वती को उपदेश दिया। बेटी! सुसराल में बचपन की बातें न करना। सास और श्वसुर को अपने माता पिता जान उनकी सब प्रकार से सेवा करना और भाइयों की न्याईं अपने देवर से बर्तना। पाणिग्रहण से पहले कुमारी के माता पिता रक्षक होते हैं और पीछे उस का पति। उस की आज्ञा में सदा चलना। उस के स्नान से पहले स्नान करना पर खाने से पहले न खाना। पति के कहीं प्रदेश जाने पर शरीर के प्रसाधन से निवृत्त रहना। वृद्धा स्त्रियों के जीवन चरित्र ही तेरे जीवन को पवित्र बनाएंगे उन का सदा अभ्यास रखना। पति के क्रोध में आने पर भी आप शान्ति में रहना, इस प्रकार उस का क्रोध स्वयं शान्त हो जायगा। अपने पति के सामने भी परपति के मुख की ओर देखते हुए उस से बात चीत न करनी, फिर एकान्त का तो क्या कहना, क्योंकि मिथ्या सन्देह भी पति पत्नी के प्रेम के तागे को तोड़ देता है, इसलिये हमारे उपदेश पर ध्यान रखना। जब पति बाहर से आए, सौ काम छोड़, पहले जल से उस के पाओं धोना और उचित सेवा करना। पति की अनुपस्थिति में यदि घर के वृद्ध जन पधारें तो घर की वृद्धा स्त्रियों के साथ मिल कर उन की सेवा करना: क्योंकि वृद्धों का अनादर वंश को ध्वंस कर देता है, इस लिये ऐसे २ शुभ कर्म करना जिस से दोनों कुलों का नाम हो॥

शंकर स्वामी और मण्डन मिश्र का शास्त्रार्थ।

निदान शंकर स्वामी के सामने उस महापुरुष (कुमारिल) ने अपने शरीर को अग्नि की आहुतियें बनाया और उस के विश्वास को देख कर शंकराचार्य्य एक नया शंकराचार्य्य बन गया। कुमारिल के शरीर के भस्म हो जाने के पीछे शंकर स्वामी प्रयाग से माहिष्मती नगरी * की ओर प्रस्थित हुए। यह शहर नर्मदा नदी के किनारे बसता था। वहां पहुंच एक दिन दोपहर के समय उस नदी के किनारे २ शंकर स्वामी मण्डन मिश्र के मकान की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग में उन्हें मण्डन मिश्र की दासियां मिलीं। ये स्त्रियें नदी की ओर पानी भरने को जा रही थीं। शंकर स्वामी ने उन से मण्डन मिश्र के मकान का पता पूछा। तो उन्हों ने उत्तर दिया "जिस घर में मैना यह पढ़ रही है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं वा परतः प्रमाण, वह मण्डन मिश्र का मकान है और जहां मैना यह बोल रही है फल देने वाला कर्म है वा ईश्वर, यह विश्व सदा से ऐसा चला आया है या उत्पत्ति वाला है वह मण्डन मिश्र के रहने का स्थान है"। इस पता पर शंकरस्वामी मण्डनमिश्र के घर पहुंचे। इस विद्वान् ब्राह्मण ने संन्यासी का बड़ा आतिथ्य और आदर किया और पूछा आप क्या भिक्षा चाहते हैं? शंकर स्वामी ने उत्तर दिया। हे सौम्य! मैं आप के पास शास्त्रार्थ की भिक्षा लेने आया हूं, यह भिक्षा आप मुझे इस प्रण पर दें कि यदि मैं हारा तो मैं आप का शिष्य बन कर गृहस्थ बन

---

* जब्बलपुर के नीचे विन्ध्याचल और रक्ष पहाड़ों के मध्य नर्मदा नदी के किनारे एक शहर था।

जाऊंगा और यदि आप हारें तो आप मेरे शिष्य बन कर संन्यासी हो जाएंगे और मेरे उद्देश के काम में मेरे सहायक और साथी होंगे। सामान्य भिक्षा की मुझे आवश्यकता नहीं है। मुझे वेदों की शिक्षा के प्रचार के विना जगत् में और कोई वस्तु प्यारी नहीं। इस लिये सब से पहली भिक्षा यही है जो मैं आप से मांगता हूं। आप आस्तिक हैं आशा है कि आप मेरे उद्देश के सहायक होंगे। मण्डन मिश्र ने शंकर स्वामी का मत मालूम करके कहा कि मेरा तो अपना मत वैदिक है आप ने अपना मत एक कल्पित स्थिर किया है। मैं किस प्रकार वेदमत को छोड़ आप के मत को स्वीकार कर सकता हूं? शास्त्रार्थ करने को तो मैं प्रस्तुत हूं। मेरी चिरकाल से यह इच्छा थी कोई विद्वान् पुरुष मिले, जिस के साथ मैं शास्त्रार्थ करूं। इसी अभिलाषा में मेरा जीवन बीत गया है। आज देव ने मेरी इच्छा को पूरा किया, आनन्द का स्थान है, कि हम दोनों का शास्त्रार्थ होगा। मैं तो चिरकाल से अपनी आशा को निराशता में परिणत कर चुका था कि मेरे साथ कोई शास्त्रार्थ करने वाला नहीं। आप भिक्षा लीजिये, शास्त्रार्थ अवश्य होगा। पर यह तो बताइये हमारे साथ शास्त्रार्थ पर निर्णय कौन देगा? आपस में शास्त्रार्थ करने से तो कोई परिणाम नहीं निकलेगा, जब तक कि कोई तीसरा पुरुष निर्णय न दे, कि अमुक हारा और अमुक जीता। और वह तीसरा पुरुष भी ऐसा होना चाहिये जो हमारी बात चीत को समझ सके। शास्त्रार्थ कल से आरम्भ होगा पर आप बताएं कि हमारे मध्य में मध्यस्थ कौन होगा? शंकर स्वामी ने उत्तर दिया कि शास्त्रार्थ का होना कल स्वीकार और इस में मध्यस्थ आप की धर्मपत्नी

होगी। यह कह कर वे भिक्षा कर नर्मदा के किनारे एक मन्दिर में जा ठहरे। दूसरे दिन जब वे शास्त्रार्थ के लिये इकट्ठे हुए तो शंकर स्वामी ने अपनी प्रतिज्ञा बतलाई। ब्रह्म एक ही है और वह वस्तुतः सत् पदार्थ है। वही अविद्या से जगत् रूप प्रतीत होता है जिस प्रकार कि सीप भ्रान्ति से चांदी प्रतीत होता है। उस के ज्ञान से प्रपञ्च का लय हो जाता है और स्वात्मा में स्थिति होती है, यही मुक्ति है जिस से फिर जन्म नहीं होता। इस में प्रमाण उपनिषद् है। नियम यह है कि यदि मैं हारा तो संन्यास छोड़ कर गृहस्थ बनूंगा। और गेरवे वस्त्र छोड़ श्वेत वस्त्र पहनूं गा। हमारे शास्त्रार्थ में सरस्वती निर्णय दे गी। मण्डन मिश्र ने कहा वेदान्त निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकते। क्योंकि शब्दों की शक्ति कार्य्य के बोधन करने में है। इस लिये सारा वेद कर्म का ही बोधक है और उसी के अनुष्ठान से मुक्ति होती है। इस शास्त्रार्थ में यदि मैं हारा तो मैं संन्यासी बन जाऊं गा। और मुझे मेरी धर्मपत्नी का मध्यस्थ होना स्वीकार है॥

शास्त्रार्थ के आरम्भ होने से पहले उस समय की रीति के अनुसार दोनों ने सरस्वती को तिलक दिया और उस ने इन दोनों को माला दी। यह शास्त्रार्थ पांच छः दिनों तक लगातार होता रहा। दोनों पक्ष एक दूसरे के मत का खंडन मंडन बड़ी योग्यता और सहिष्णुता के साथ बड़ी प्रबल युक्तियों से करते रहे। हंसते हुए मुख से बड़ी प्रगल्भता के साथ एक दूसरे का खण्डन करते रहे न कभी कोई, रुका न हृदय में क्षोभ आया, न शरीर में पसीना। और न कंपा और न चेहरे का रङ्ग बदला और न स्वर का भङ्ग हुआ और न कभी

निरुत्तर हो कर वाक्छल का प्रयोग किया । शास्त्रार्थ के समाप्त होने के समय सरस्वती दोनों पक्षों को खाने के लिये याद दिलाती और वह इस प्रकार कि शंकरस्वामी को तो कहती महाराज ! चल कर भिक्षा कीजिये और मण्डन मिश्र को कहती महाराज ! चल कर भोजन कीजिये । इन शब्दों से मानो सरस्वती प्रतिदिन निर्णय दे देती कि अभी तक वादी अपने २ पक्ष को बड़ी योग्यता के साथ सिद्ध कर रहे हैं और कोई किसी को निरुत्तर नहीं कर सका । शास्त्रार्थ के अन्तिम दिन सरस्वती ने हाथ जोड़ कर दोनों से कहा कि महाराज ! चल कर भिक्षा करें । इस बात के कहने से मानों उसने निर्णय दे दिया कि आज मण्डनमिश्र अपने पक्ष को सिद्ध नहीं कर सका और प्रतिज्ञा के अनुसार आज से वह संन्यास आश्रम में प्रवेश कर चुका है । सारे शास्त्रार्थ को इस जगह विस्तार के साथ लिखने का अवकाश नहीं । हम वादियों की सब से प्रबल युक्तियों को यहां दुहराते हैं, जिस से कि पाठकों को शास्त्रार्थ का कुछ वृत्तान्त विदित हो जाए ॥

मण्डन मिश्र—आप जीव और ईश्वर की एकता बताते हैं इस में कोई प्रमाण नहीं ।

शंकर स्वामी–प्रमाण है-उद्दालक ने श्वेतकेतु को उपदेश किया कि श्वेतकेतो ! तू वह अर्थात् परमेश्वर है ।

मण्डन मिश्र—ऐसे वचन केवल जप के लिये हैं उनके जप करने से पाप दूर होते हैं ये किसी अर्थ की विवक्षा से नहीं बोले गए, जैसे हुं और फट् हैं ।

शंकर स्वामी—हुं फट् आदि शब्दों में अर्थ की प्रतीति न होने से इन को जप के उपयोगी कहा गया है । पर उपनि-

मन्त्र के इस वचन के तो अर्थ स्पष्ट हैं फिर यह केवल जपोपयोगी कैसे हो सकता है ।

मण्डन मिश्र—" तत्त्वमसि " वाक्य से जाहरा अभेद प्रतीत होता है, पर इस का तात्पर्य अभेद बोधन से जीवात्मा की नित्यता प्रकट करना है, क्योंकि आत्मा को नित्य समझने से पुरुष यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होता है, जिन का फल दूसरे लोक में होता है । इसलिये सारा ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड का अङ्ग है अर्थात् ज्ञानकाण्ड आत्मा को नित्य बताता है और आत्मा को नित्य समझने से पुरुष पारलौकिक कर्मों में तत्पर होता है जो कर्मकाण्ड का उद्देश्य है ।

शंकरस्वामी—कर्मकाण्ड के अर्थवाद तो कर्म का अङ्ग बन सकते हैं क्योंकि वे उसी प्रकरण में आए हैं पर जीव और ब्रह्म की एकता के बोधक वचन किस प्रकार कर्म काण्ड का अङ्ग बन सकते हैं जिन का प्रकरण सर्वथा अलग है ।

मण्डन मिश्र—"मनोब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः " अर्थात् मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करे, और सूर्य्य ब्रह्म है, यह आदेश है । यहां सूर्य और ब्रह्म को जो वस्तुतः ब्रह्म नहीं, उपासना के निमित्त ब्रह्म बताया है । इस वचन के कहने से मन और सूर्य ब्रह्म नहीं बन जाते, किन्तु उपासना के लिये उन्हें ब्रह्म ख्याल करना चाहिये और उपासना का फल यह है कि जिस कर्म में कोई उपासना बतलाई है उस कर्म में उस उपासना के करने से कर्म अधिक बल वाला बनता है । इसी प्रकार यह कहने से कि ' वह तू है, जीव और ईश्वर एक नहीं बन जाते, केवल उपासना के निमित्त जीव को ईश्वर ख्याल करना बताया है ॥

शंकर स्वामी—" मनोब्रह्मेत्युपासीत " यहां तो विधि पाई जाती है, कि ऐसी उपासना करे, पर " तत्वमसि " में तो कोई विधि नहीं, कि जीव को ब्रह्म समझे या ब्रह्म ख्याल करके उपासना करें। इस लिये यह वचन यथार्थ ज्ञान को प्रकट करता है, उपासना के लिये नहीं॥

मण्डन मिश्र—रात्रिसत्र (यज्ञ) के करने में कोई विधि नहीं, पर यह बतलाया गया है कि इस का फल प्रतिष्ठा लाभ करना है। इस लिये यह कल्पना की जाती है कि इस यज्ञ के करने की विधि है। इसी प्रकार " वह तू है " के ध्यान का फल मुक्ति बतलाया गया है, उचित है कि यहां भी विधि कल्पना की जावे अर्थात् जो मुक्ति पाना चाहता है, वह जीव को ब्रह्म ध्यान करके उस की उपासना करे॥

शंकर स्वामी—यदि मुक्ति उपासना का फल है तो वह क्रियाजन्य हुई, तब वह स्वर्ग की नांई अनित्य हो जायगी क्योंकि उत्पन्न हुई वस्तु अवश्य नष्ट होगी, निःसन्देह उपासना भी एक कर्म है क्योंकि इस का करना वा न करना, ठीक करना वा अन्यथा करना, मनुष्य के अपने अधीन है। सारे कर्मों की यही अवस्था है। पर ज्ञान मनुष्य के अपने हाथ नहीं, वह वस्तु के अधीन है। उस में जानना वा न जानना वा अन्यथा जानना मनुष्य के अपने अधीन नहीं। जैसी वस्तु होगी वैसा ज्ञान होगा इसलिये ज्ञान कर्म के अन्तर्गत नहीं हो सकता॥

मण्डन मिश्र—यदि ऐसा ही जाना जाय तो भी यह वचन जीव और ब्रह्म की एकता को प्रकट नहीं करता किन्तु इस से यह प्रकट होता है कि वह (जीव) उस के (ईश्वर के) सदृश है। क्योंकि जब भिन्न वस्तुओं का अभेद बताया जाता

है तो उस का यह अभिप्राय होता है कि यह उसके सदृश है। जैसे यह पुरुष शेर है अर्थात् यह पुरुष शेर के सदृश पराक्रम वाला और निडर है ॥

शंकर स्वामी–क्या जीव चेतन होने में परमेश्वर के सदृश है वा सर्वज्ञ सर्वात्मा और सर्व शक्ति होने में भी? यदि कहो कि चेतन होने में, तो इस के उपदेश की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह समता तो प्रसिद्ध ही है और यदि सर्वज्ञ सर्वात्मा और सर्व शक्ति होने में परमात्मा के सदृश हो जाता है तो फिर भेद ही क्या रहा; वह तो परमेश्वर का स्वरूप ही है ॥

मण्डन मिश्र—सदृश होने से यह अभिप्राय है कि उस अवस्था में जीवात्मा में परमात्मा के तुल्य सुख और ज्ञान आदि प्रकट होते हैं जो पहले अविद्या के कारण छिपे हुए थे ॥

शंकर स्वामी—यदि यह मानते हो कि जीवात्मा में परमात्मा के सदृश गुण हैं पर वे अविद्या के आवरण से ढपे हुए हैं और अविद्या के दूर होने पर वे गुण प्रकट होते हैं तो फिर इस के मानने में क्या दोष है कि जीव वस्तुतः ब्रह्म है, पर वह अविद्या रूप आवरण से ढपा हुआ होने के कारण अपने आप को ब्रह्म नहीं समझता। जब आवरण दूर हो गया, तो फिर वह सच मुच ब्रह्म है ॥

मण्डन मिश्र—अच्छा तो इस का यह अभिप्राय समझिये कि ब्रह्म जीव के तुल्य है अर्थात् जैसे जीव चेतन है वैसे ब्रह्म भी चेतन है और इस से यह परिणाम निकला कि इस जगत् का बनाने वाला ब्रह्म जड़ नहीं, चेतन है ॥

शंकर स्वामी—ऐसी दशा में तो 'तत्त्वमसि' की जगह 'तत्त्वमस्ति' वाक्य होना चाहिये अर्थात् वह है तू; न कि तू

यह है । और जगत् का कारण जड़ नहीं चेतन है इस का उत्तर तो इस वचन से मिल जाता है " तदैक्षत " अर्थात् उस ने ख्याल किया ॥

मण्डन मिश्र–जीव और ईश्वर का अभेद प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है इस लिये यह वचन केवल जप के लिये हैं ॥

शंकर स्वामी—अभेद का प्रत्यक्ष के साथ तब विरोध हो, यदि प्रत्यक्ष से भेद सिद्ध हो । पर प्रत्यक्ष से तो भेद सिद्ध ही नहीं होता । क्योंकि भेद के अर्थ हैं कि यह वस्तु वह वस्तु नहीं, जैसे सूर्य्य और चन्द्र में भेद है अर्थात् सूर्य्य चन्द्र नहीं । और नहीं अर्थात् अभाव के साथ किसी इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं होता । इस लिये भेद में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं । जब प्रत्यक्ष से भेद सिद्ध नहीं होता तो प्रत्यक्ष का अभेद के साथ विरोध कैसे हुआ ॥

मण्डन मिश्र–प्रत्येक पुरुष इस बात को अनुभव करता है कि मैं ब्रह्म नहीं । भला जिस बात को आत्मा अनुभव करता है, वह किस तरह दूर हो सकती है ॥

शंकर स्वामी— मैं ब्रह्म नहीं, यह प्रत्यक्ष प्रमाण अविद्या युक्त जीव और माया युक्त ईश्वर के भेद को सिद्ध करता है और श्रुति का यह अभिप्राय है कि जब अविद्या और माया को अलग कर दिया जाए तो उन का आपस में कोई भेद नहीं रहता । यह भेद केवल उपाधि का है और जिस कारण प्रत्यक्ष उस भेद को सिद्ध करता है जो उपाधि के साथ हो और श्रुति उस का अभेद सिद्ध करती है जो उपाधि से रहित हो । इस लिये प्रत्यक्ष और श्रुति में कोई विरोध नहीं क्योंकि इन का विषय अलग २ है । और यदि मान भी लिया जाए कि प्रत्यक्ष

और श्रुति का आपस में विरोध है तो भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रुति प्रबल प्रमाण है। क्योंकि प्रत्यक्ष से भेदज्ञान तो पहले होता है और श्रुति से अभेद ज्ञान पीछे। और एक ही विषय पर वे ज्ञान जो एक दूसरे के विरुद्ध हों उन में से पूर्व ज्ञान दुर्बल वा बाधित और पर ज्ञान बलवान् वा बाधक समझा जाता है, जैसा कि पुरुष पहले भ्रान्ति से सीप को चांदी समझता है। पर जब उस को सीप समझ लेता है तब उस का पहला चांदी का ज्ञान दूर हो जाता है। यदि यह माना जाय कि पहला ज्ञान सत्य था तो दूसरा उस के विरुद्ध उत्पन्न हो नहीं सकता। इसी प्रकार पहले प्रत्यक्ष से भेद का ज्ञान होता है और फिर श्रुति अभेद को सिद्ध करती है, इस लिये श्रुति के सम्मुख प्रत्यक्ष दुर्बल है।

मण्डन मिश्र—यदि यह माना जाय, कि प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ श्रुति का कोई विरोध नहीं तो भी इस का अनुमान प्रमाण के साथ विरोध स्पष्ट पाया जाता है। जैसे जीव ब्रह्म नहीं, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं, जो सर्वज्ञ नहीं, वह ब्रह्म नहीं, जैसी कि पृथिवी सर्वज्ञ नहीं तो वह ब्रह्म नहीं। किञ्च शास्त्रों में लिखा है कि ईश्वर, स्वामी और सारे विश्व को अपने नियम में रखने वाला है और जीव उस की प्रजा और उस के नियम में चलने वाला है। यदि जीव और ब्रह्म में भेद न माना जाय तो कोई स्वामी और प्रजा, नियन्ता और नियम्य नहीं बन सकता॥

शंकर स्वामी—बताइये अनुमान प्रमाण वास्तव भेद को प्रकट करता है वा व्यावहारिक भेद को। यदि कहा जाए कि वास्तव भेद को प्रकट करता है तो उस के लिये कोई दृष्टान्त

नहीं बन सकता। आप तो पृथ्वी के दृष्टान्त से भेद को प्रकट करते हैं, पर हम पृथिवी को भी ब्रह्म से भिन्न नहीं मानते। अतएव अनुमान प्रमाण में आप इस का दृष्टान्त किस प्रकार दे सकते हैं? पर यदि यह कहा जाए कि अनुमान व्यावहारिक-भेद को सिद्ध करता है, तो आप का हम से कुछ भेद नहीं, क्योंकि कल्पित भेद को हम भी मानते हैं और इसी कल्पित भेद के आश्रय स्व स्वामी और नियम्य नियामक का भेद बन सकता है॥

मण्डन मिश्र—जीव ईश्वर का भेद तो आप उपाधि से मानते हैं अर्थात् अविद्या की उपाधि के कारण से जीव और ब्रह्म अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वे एक ही हैं; पर पृथिवी और ईश्वर में भेद उपाधि के विना ही है, इस लिये यह दृष्टान्त बन सकता है॥

शंकर स्वामी—हम पृथिवी और परमेश्वर में भेद भी अविद्या रूप उपाधि से ही मानते हैं क्योंकि जब तक अविद्या है तब तक ही भेद है अविद्या के नष्ट होने पर कोई भेद नहीं रहता इस लिये आप का दृष्टान्त नहीं घटता॥

मण्डनमिश्र–द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।

अर्थात्—इकट्ठा रहने वाले सुन्दर परों वाले (एक दूसरे के) सखा पक्षी एक वृक्ष पर रहते हैं उन में एक तो उस वृक्ष के मीठे फल को खाता है और दूसरा उस फल को न खाता हुआ देखता है *।

* दोनों पक्षियों से तात्पर्य आत्मा और परमात्मा से है।

इस मन्त्र में जीवात्मा को कर्मों का फल भोगने वाला और परमात्मा को उस के कर्मों का देखने वाला बताया है। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि जीव और ईश्वर एक नहीं, किन्तु अलग २ हैं॥

शंकर स्वामी—यह मन्त्र जीवात्मा और परमात्मा में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध भेद को प्रकट करता है। पर इस का मुख्य अभिप्राय भेद के सिद्ध करने का नहीं, किन्तु इस में प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का अनुवाद मात्र है।

जिस प्रकार अर्थवाद अपने अर्थ में प्रमाण नहीं होते किन्तु उन का तात्पर्य लिया जाता है। इसी प्रकार यह श्रुति भी इस बात को सिद्ध करने के लिये नहीं कही गई कि जीव और ईश्वर में वास्तव भेद है, किन्तु यहां तो प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का अनुवाद किया गया है। पर याद रहे कि यह उत्तर तो इस बात को मान कर दिया गया है कि सचमुच इस मन्त्र में आत्मा परमात्मा का वर्णन है। पर असल बात यह है कि यह मन्त्र आत्मा को अन्तःकरण से अलग बता कर उस का सब प्रकार के भोगों से अलग रहना बतलाता है अर्थात् भोगने वाला पक्षी अन्तःकरण है और आत्मा उस को देख रहा है॥

मण्डन मिश्र—यदि यह श्रुति जीवात्मा और परमात्मा को प्रकट नहीं करती किन्तु अन्तःकरण और आत्मा को प्रकट करती है तो इस से यह अभिप्राय निकलेगा कि अन्तःकरण जो जड़ है वह भोगता है आत्मा जो चेतन है वह नहीं भोगता।

वृक्ष से अभिप्राय मनुष्य के शरीर का है। फल से अभिप्राय लोक के सुख दुःख का भोगना है। जीवात्मा यह फल खाता है और परमात्मा उसे देखता है॥

और जड़ अतः भोगने वाला नहीं बन सकता इस लिये ऐसा अर्थ करने में निरर्थक बात के बतलाने से श्रुति अप्रामाणिक ठहरेगी ॥

शंकर स्वामी—यह आक्षेप हमारे ऊपर नहीं आता क्योंकि इस मन्त्र का यह अर्थ पैंगिरहस्य ब्राह्मण में लिखा है कि भोगने वाला सत्व अर्थात् अन्तःकरण और देखने वाला क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा है ॥

मण्डन मिश्र—इस जगह भी 'सत्व' शब्द का अर्थ जीवात्मा और 'क्षेत्रज्ञ' का अर्थ परमात्मा हो सकता है और इस ब्राह्मण में जीवात्मा और परमात्मा का प्रसंग है, अन्तःकरण और जीव का नहीं ॥

शंकर स्वामी—वहां तो स्पष्ट लिखा है "तदेतत्सत्वं येन स्वप्नं पश्यत्यथयोऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञ स्तावेतौ सत्व क्षेत्रज्ञौ" अर्थात् सत्व वह है जिस से स्वप्न को देखता है और जो देखने वाला शरीर में होने वाला है वह क्षेत्रज्ञ है ये दोनों सत्व और क्षेत्रज्ञ हैं। यहां स्वप्न के देखने वाले को क्षेत्रज्ञ और देखने के द्वार को सत्व बताया है। जिस लिये पुरुष अन्तःकरण के द्वारा स्वप्न देखता है, और जीवात्मा देखने वाला है इस लिये यहां अन्तःकरण और जीवात्मा का वर्णन है जीव और ईश्वर का नहीं।

मण्डन मिश्र इन शब्दों से "जिस से स्वप्न को देखता है" जीवात्मा अभिप्रेत है अन्तःकरण नहीं क्योंकि यह जड़ शरीर आत्मा के द्वारा स्वप्न को देखता है। और इन शब्दों से जो देखने वाला है वह क्षेत्रज्ञ है, अभिप्राय परमात्मा से है क्योंकि वह सर्व व्यापक और सब का देखने वाला है इस लिये यह स्वप्न को देखता है ॥

शंकर स्वामी—यहां लिखा है जिस से स्वप्न को देखता है वह सत्व है, इस से प्रकट होता है कि सत्व वह वस्तु है जो स्वप्न के देखने का द्वार है न कि देखने वाला और देखने का द्वार अन्तःकरण है न कि जीवात्मा और जीवात्मा देखने वाला है न कि देखने का द्वार। किन्तु यहां देखने वाले को शारीर (शरीर में होने वाला) बतलाया है इस लिये वह ब्रह्म नहीं समझा जा सकता, क्योंकि शरीर में होने वाला जीवात्मा है परमात्मा तो सारे विश्व में वर्तमान है उस को शारीर किस तरह कहा जा सकता है ॥

मण्डनमिश्र–जब परमात्मा सारे विश्व में विद्यमान है तो शरीर में भी है इसलिये उसका नाम शारीर हो सकता है ॥

शंकर स्वामी—जब परमात्मा शरीर से बाहर भी है तो उसका यह नाम नहीं हो सकता, जिस प्रकार आकाश शरीर के बाहर भी है पर उस को कोई शारीर नहीं कहता ॥

मण्डनमिश्र–यदि इस मन्त्र में अन्तःकरण और जीवात्मा का ही वर्णन है तो जड़ अन्तःकरण को भोक्ता (भोगने वाला) मानना पड़ेगा क्योंकि इस में लिखा है कि उन में से एक स्वादु फल को खाता है और आप के विचार में वह अन्तःकरण है जो जड़ है,पर इस में कोई प्रमाण नहीं कि जड़ भोगता है ॥

शंकर स्वामी—जिस प्रकार लोहा आग के साथ मिलने से जलाने वाला बन जाता है, यद्यपि वह स्वयं जलाने की शक्ति नहीं रखता, इसी प्रकार जड़ अन्तःकरण भी चेतन के साथ मिलने से भोक्ता बन जाता है ।

मण्डन मिश्र—ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके,
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति।
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

अर्थात् पुण्य के लोक में उत्तम स्थान (हृदय) के अन्दर गुफा में प्रविष्ट हुए दोनों ऋत (कर्म फल) के पीने वाले हैं। इन दोनों को ब्रह्मवेत्ता और पञ्चाग्नि विद्या के जानने वाले और त्रिणाचिकेत (जिन्हों ने तीन वार नाचिकेत नामक अग्नि चयन किया है) छाया और धूप बतलाते हैं। इस श्रुति से सिद्ध है कि जिस प्रकार धूप और छाया में भेद है इसी प्रकार जीव और ईश्वर भी सर्वथा भिन्न २ हैं॥

शंकर स्वामी—यह श्रुति भी व्यावहारिक भेद को सिद्ध करती है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि भेद सच्चा है। सच्चा तो अभेद है, जो तत्वमसि से प्रकट किया गया है और वह 'तत्वमसि' श्रुति इस श्रुति की बाधक है क्योंकि इस श्रुति में अपूर्व (ना मालूम) अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता के विषय में बताया है जिस के लिये श्रुति की आवश्यकता है। और "ऋतं पिबन्तौ" श्रुति मे भेद बतलाया है और वह अपूर्व नहीं, क्योंकि श्रुति की सहायता के बिना भी समझ में आ सकता है इस लिये श्रुति का तात्पर्य भेद सिद्धि में नहीं किन्तु लोक सिद्ध भेद का अनुवाद मात्र है॥

मण्डन मिश्र—प्रत्यक्षादि प्रमाण भी भेदश्रुति की पुष्टि करने वाले हैं इस लिये भेद श्रुति प्रबल है और अभेद श्रुति के

साथ और किसी प्रमाण का मेल नहीं इसलिये वह दुर्बल है॥

शंकर स्वामी—वेदों की प्रबलता किसी दूसरे प्रमाण के के अधीन नहीं, अपितु दूसरे प्रमाणों का साथ मिल जाना श्रुति को दुर्बल करता है क्योंकि वह बात जो विना वेद समझ में आ सकती है, वेद उस के प्रकट करने के लिये प्रकाश नहीं हुआ, वे बातें जो किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध हो सकती हैं वेदों में उन का कथन अनुवाद मात्र समझा जाता है वस्तुतः वेद उस बात के बताने के लिये प्रवृत्त हुए हैं जहां दूसरे प्रमाणों की पहुंच नहीं, इस लिये अभेद वेद का अभिप्रेत है भेद नहीं॥

मण्डन मिश्र—तैत्तिरीय में यह लिखा है—

सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥

अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को जो परम आकाश (हृदय) के अन्दर गुफा में स्थिर जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को भोगता है। इस में यह बताया है कि मुक्त जीव ब्रह्म के साथ उन सारी कामनाओं को भोगता है। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि मुक्ति में जीव और ब्रह्म अलग २ रहते हैं इस लिये भेद ही सत्य है॥

शंकर स्वामी—इस के यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है किन्तु इस का यह अभिप्राय है कि अविद्या का परदा दूर होने से ब्रह्मरूप हो कर वह एक साथ उन सारी कामनाओं को भोगता है जो पहले ही उस

के अन्दर विद्यमान होती हैं, पर अविद्या के कारण से नामालूम परदे के अन्दर छिपी हुई थीं।

मण्डन मिश्र—आत्मा वाअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

अर्थ—हे मैत्रेयि! श्रवण (सुनने) मनन (विचार करने) और निदिध्यासन (चित्त को बार २ उस में लगाने) से आत्मा को साक्षात् करना चाहिये। इस वचन में जीवात्मा को साक्षात् करने वाला और परमात्मा को साक्षात् के योग्य बतलाया है, इस लिये भेद सत्य है॥

शंकर स्वामी—यहां भी व्यावहारिक भेद को लेकर कर्म और कर्त्ता प्रकट किये हैं क्योंकि यदि भेद को सच्चा माना जाए तो अभेद श्रुति के साथ विरोध ठहरता है और अभेद में वेद का असली तात्पर्य है, इस लिये यहां भी लोकसिद्ध भेद का अनुवाद मात्र है॥

मण्डन मिश्र—यदि जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद हो तो वह मालूम होना चाहिये। पर अभेद मालूम नहीं देता, इस लिये अभेद नहीं है, इस अर्थापत्ति प्रमाण से भेद सिद्ध होता है॥

शंकर स्वामी—अन्धेरे में घड़ा मालूम नहीं होता, इस से यह नहीं आता कि घड़े का स्वरूप अन्धेरे में नहीं है, क्योंकि अन्धेरे के दूर हो जाने पर वह स्पष्ट मालूम हो जाता है। इसी प्रकार अविद्या से अभेद मालूम नहीं होता तो भी यह नहीं कह सकते कि अभेद है ही नहीं, क्योंकि अविद्या का परदा उठ जाने पर अभेद स्पष्ट मालूम होता है॥

निदान यह शास्त्रार्थ देर तक होता रहा और दोनों वादियों से अपने २ पक्ष की सिद्धि में बहुत से तर्क और प्रमाण उपस्थित किये गए। पर अन्ततः स्वामी शंकराचार्य्य ने मण्डन मिश्र को सब प्रकार निरुत्तर कर दिया। जब सरस्वती को विश्वास हो गया कि उस का पति शास्त्रार्थ में पराजित हुआ है तो उस ने दोनों महानुभावों के आगे हाथ जोड़ कर कहा। महाराज! अब भिक्षा का समय आ गया है आप दोनों भिक्षा* के लिये पधारें। इन वचनों से मण्डन मिश्र ने समझ लिया कि मैं शास्त्रार्थ में स्वामी शंकराचार्य्य का मुकाबिला नहीं कर सका और सरस्वती ने मेरे विरुद्ध निर्णय दे दिया है। इस निर्णय के आगे इस विद्वान् ब्राह्मण ने अपना सिर झुकाया। सरस्वती के इस निर्णय पर मण्डन मिश्र ने शास्त्रार्थ करना बन्द कर दिया और अब एक शिष्य की रीति पर अपने सन्देह दूर करने के लिये उसने शंकर स्वामी के पास कहा, महाराज! मुझे इस पराजय से कोई क्लेश नहीं, पर मुझे इस बात ने सन्देह में डाल दिया है कि आपने जैमिनि मुनि के वचनों का खंडन क्यों कर दिया? भला, भूत भविष्यत् के सारे वृत्तान्तों का जानने वाला, सारे जगत् का भला चाहने वाला, वेदों के

---

* संन्यासी के लिये शास्त्रों में भिक्षा करके खाना लिखा है, यदि वह किसी एक घर पर भी भोजन करता है तो भी उसे भिक्षा ही समझा जाता है। और संन्यासियों के लिये उन्हें भोजन कराने वाले भी भिक्षा शब्द ही बोलते हैं। इस समय दोनों के लिये सरस्वती का भिक्षा शब्द का प्रयोग करना इस बात का निर्णय था, कि अब मण्डन मिश्र अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संन्यासी हो चुका है।

प्रकाश का फैलाने वाला और तप का भण्डार, जैमिनि मुनि किस प्रकार झूठे सूत्र लिख सकता था ? शंकर स्वामी ने उत्तर में कहा कि जैमिनि मुनि के कथन में किसी प्रकार के संशय विपर्यय का अवसर नहीं । यह हमारी त्रुटि है कि हम अपनी अनभिज्ञता के कारण से उस के हृदय के मनशा को नहीं समझते । मण्डन मिश्र ने कहा कि यदि और विद्वानों ने उस के अभिप्राय को नहीं समझा तो आप ही प्रकट करें, जिस से मेरी शान्ति हो । शंकर स्वामी ने उत्तर दिया, जैमिनि मुनि का यह अभिप्राय था कि लोग परमात्मा को जान कर परमानन्द लाभ करें । पर इस ख्याल से कि साधारण लोग जगत् के धन्दों में फंसे हुए हैं जब तक उन का अन्तःकरण शुद्ध न हो, वे पारमार्थिक ज्ञान के अधिकारी नहीं बन सकते, इस लिये उन्हों ने धर्म की व्याख्या की । क्योंकि धर्म के अनुष्ठान से शुद्ध अन्तःकरण मिलता है जिस से मनुष्य ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनता है, जैसा कि उपनिषद् में लिखा है ॥

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ।

ब्राह्मण उस परमात्मा को वेदों के अभ्यास, यज्ञ, दान, और विषयों से बच कर तप करने से जानने की इच्छा करते हैं ॥

इस श्रुति में धर्म के अंगों को ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न करने वाले बतलाया है, अतएव इस श्रुति के सहारे ब्रह्मज्ञान का प्रथम साधन होने के कारण उस ने कर्मों का वर्णन किया है और ब्रह्म के वर्णन से उदासीन रहा है । उस का यह अभिप्राय नहीं कि परमात्मा नहीं, किन्तु वह यह समझता था कि

धर्म के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होगा और उस के कारण से स्वयमेव ब्रह्म विद्या का प्रकाश हो जायगा इस लिये उसने केवल धर्म का वर्णन किया है ॥

मण्डन मिश्र ने पूछा जैमिनि के इस, सूत्र का क्या अभिप्राय है ?

आम्नायस्य क्रियार्थत्वा दानर्थक्य मतदर्थानां ।

यही वचन सार्थक है कि जिस से कोई कर्म सिद्ध होता है और जिन वचनों से कोई कर्म सिद्ध नहीं होता वे सब के सब निरर्थक हैं ॥

इस सूत्र से स्पष्ट पाया जाता है कि सारे वेद का तात्पर्य्य कर्म का बतलाना है फिर आप ब्रह्मविद्या को कर्म से असम्बद्ध किस तरह मानते हैं ? शंकर स्वामी ने उत्तर दिया कि सारा ही वेद परम्परा से परमेश्वर को प्रकट करता है इस लिये कर्मों का फल भी परम्परा से परमात्मा की प्राप्ति है और इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कर्मों के सम्बन्ध में जो अर्थवाद हैं वे विधि और निषेध की स्तुति और निन्दा के लिये हैं उन का अपना कोई विशेष उद्देश नहीं। क्योंकि यह सूत्र कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कहा गया है, ब्रह्मविद्या का विषय भिन्न है। अतएव इस सूत्र के अभिप्राय से वे वाक्य निरर्थक नहीं समझे जाते जो ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में हो कर कर्मों के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रखते ॥

मण्डन मिश्र ने पूछा कि जब सारा वेद परमेश्वर ही को प्रकट करता है तो उसने कर्मों को स्वयमेव फल देने वाला किस तरह बताया ? इस से तो परमेश्वर का स्पष्ट खण्डन

पाया जाता है। शंकराचार्य्य ने उत्तर दिया। कणाद मतानुयायी मानते हैं,जो कर्म है उसका कर्त्ता अवश्य है जैसे मन्दिर कार्य्य है तो राज इस का कर्त्ता है। इसी प्रकार यह जगत् भी कार्य्य है इस लिये इस का भी अवश्य कोई चेतन कर्त्ता है और जिस कारण मनुष्य में जगत् के रचने को शक्ति नहीं इस लिये जगत् का कर्त्ता परमेश्वर है,इत्यादि अनुमान प्रमाण से ही परमेश्वर के अस्तित्व में प्रमाण दिया जा सकता है। वेद ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में केवल अनुवाद मात्र ही है और जैमिनि मुनि का इस प्रकार के अनुमान के खण्डन से यह अभिप्राय है कि परमात्मा का ज्ञान वेद के बिना हो ही नहीं सकता। अनुमान उस को ठीक २ नहीं बता सकता। और यही श्रुति में आया है :—

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।

अर्थात् वेद का न जानने वाला उस महान् (परमात्मा) को नहीं समझ सकता। सो इसी बात का ख्याल करके उस ने ऐसी २ युक्तियां का खण्डन किया है कि जिस से साधारण जन परमेश्वर को सिद्धि करते हैं और इसी भ्रान्ति से लोग उस को अनीश्वरवादी कहते हैं। पर उस के तात्पर्य्य को समझने से प्रतीत होता है कि न तो वह अनीश्वरवादी है और न ही उपनिषदों के साथ उस का कुछ विरोध है। क्या यदि उस ने ऐसी युक्तियों का खण्डन किया जो वास्तव में वेद के सहारे बिना ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकतीं तो उस से वह अनीश्वरवादी हो गया? वह परमेश्वर के जानने वालों में श्रेष्ठ और सब से उत्तम था। क्या उल्लू के कल्पित

अन्धकार से सूर्य का प्रकाश दूर हो जायगा? कभी नहीं। इसी प्रकार अविद्वानों से कल्पित मिथ्या दोष जैमिनि मुनि को नास्तिक नहीं बना सकते। परमेश्वर पर श्रद्धा रखने वालों में सब से बढ़कर श्रद्धावान् जैमिनि इस कलंक से रहित है॥

इस तरह पर जब शंकर स्वामी ने जैमिनि मुनि के सूत्रों का तात्पर्य सुनाया, तो मण्डन मिश्र सरस्वती और अन्य सभासदों को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे सब के सब शंकराचार्य की छोटी सी आयु और तिस पर आश्चर्य विद्या पर साधु २ कहने लगे।

अब मण्डन मिश्र ने दोनों हाथ जोड़ कर शंकर स्वामी से प्रार्थना की। मैं बड़ा ही भाग्यवान् हूं कि मुझे आप के दर्शन हुए। मैं घर दार बाल बच्चे और पत्नी को छोड़ आप की शरण आ पड़ा हूं, आप मुझे सेवक समझें और कृपा कर अनुशासन करें॥

शंकर स्वामी और सरस्वती।

मण्डनमिश्र ने जब इस प्रकार अपने पराजय को स्वीकार करके अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने आप को अब शंकर स्वामी का शिष्य पाया और उन की आज्ञा मानने और उन की सेवा करने का प्रण दुहराया, तो शंकर स्वामी ने उस समय सरस्वती की ओर देखा। सरस्वती ने निवेदन किया कि निःसंदेह शास्त्रार्थ में आपने मेरे पति पर विजय लाभ किया है और प्रतिज्ञानुसार उचित है कि मेरा पति पराजित होने पर आप के शिष्यों में प्रविष्ट हो और गृहाश्रम का त्याग करे। पर हे विद्वन्! अभी तक आपने मेरे विख्यात पति पर पूरा विजय लाभ नहीं किया। शास्त्रों में स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी करके लिखा

है मेरे पति पर विजय लाभ करने से आप ने उस के आधे शरीर पर विजय लाभ किया है। पूर्व इस के कि मेरा स्वामी आप का शिष्य बने, उचित है कि आप मेरे साथ शास्त्रार्थ करके मुझ पर भी विजय लाभ करें। शंकर स्वामी ने सरस्वती के मुख से ऐसे शब्द सुन कर कि जिन में अपने पति का अनुराग कूट २ कर भरा हुआ था, उसे बहुतेरा रोकने का प्रयत्न किया, पर वे इस में सफल न हुए। उन्हों ने सरस्वती को सम्बोधन करके कहा, मातः! कुछ संदेह नहीं आप का दिल भी शास्त्रार्थ करनेको चाहता होगा पर मुझे इससे इनकार है, क्योंकि यशस्वी और तपस्वी पुरुष स्त्रियों के साथ शास्त्रार्थ नहीं किया करते। सरस्वती ने विनय से उत्तर दिया और कहा हे भगवन्! जो कोई अपने सिद्धान्त की रक्षा करनी चाहता है और उस के सिद्धान्त पर कोई किसी प्रकार का आक्षेप करता है तो चाहे वह पुरुष हो वा स्त्री, उस को युक्ति प्रमाण से समझाने और उस पर विजय लाभ करने के प्रयत्न करने में कोई हानि नहीं और अपने सिद्धान्त का प्रचार भी तभी हो सकता है। क्या आप नहीं जानते कि याज्ञवल्क्य मुनि ने गार्गी के साथ शास्त्रार्थ किया था और इसी प्रकार जनक का सुलभा के साथ शास्त्रार्थ हुआ था? क्या याज्ञवल्क्य और जनक के यशस्वी तपस्वी होने में कोई संदेह हो सकता है? स्वामी शंकराचार्य्य को इस युक्ति के सामने झुकना पड़ा और उन्हों ने सरस्वती की सचाई पर भरोसा रख कर बिना किसी पुरुष के मध्यस्थ नियत करने के उस के साथ शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया। सो नियत दिन पर शास्त्रार्थ आरंभ हुआ और इस शास्त्रार्थ में पहले की अपेक्षा लोगों ने अधिक रुचि प्रकट की उस समय के लगभग

सारे योग्य विद्वान् इस में सम्मिलित हुए और सत्तरह दिनों तक यह शास्त्रार्थ भिन्न २ विषयों पर होता रहा। अन्ततः सरस्वती को भी शंकराचार्य की विद्वत्ता और युक्तियों के सामने सिर झुकाना पड़ा। सब ने उनकी छोटी सी आयु और उस पर यह आश्चर्य किया, उस यति की स्वाभाविक प्रज्ञा और शास्त्रों के मर्म की अभिज्ञता पर साधु २ किया। इस समय सारी सभा विस्मय के परवश हुई चित्र-लिखित की नाईं प्रतीत होती थी, पर उन के चेहरों से साफ टपकता था कि वे अपने देशवासी की विद्या और उस की उदार इच्छाओं से फूले हुए अपने वस्त्रों में नहीं समाते थे और उस के साथ सभी के दिलों पर शंकर स्वामी के आदर ने अपना पूरा प्रभाव जमा लिया और इस आदर सत्कार के प्रकाश में सारे लोग उन के चेहरे की ओर टिकटिकी लगाए देख रहे थे॥

मण्डनमिश्र का संन्यास आश्रम में प्रवेश।

इस शास्त्रार्थ की समाप्ति पर मण्डन मिश्र ने यथाविधि प्राजापत्य यज्ञ किया और जो कुछ कि उसके पास था सब का सब दान में देकर और अपने आत्मा में अग्निहोत्र का समारोपण कर स्वामी शंकराचार्य्य के चरणों पर आ पड़ा। शंकर स्वामी ने विधि के अनुसार मण्डन मिश्र को संन्यास आश्रम में दीक्षित कर उस के कानों में 'तत्त्वमसि' वाक्य का उपदेश किया। और तदनन्तर मण्डन मिश्र ने भिक्षा मांगी। आचार्य्य ने 'तत्त्वमसि' का उपदेश करके उसे बताया कि हे सौम्य! तू शरीर नहीं, क्योंकि शरीर अन्य स्थूल पदार्थों की नाईं अनात्मा है और इस में ये युक्तियें हैं:—

(१) शरीर आकार और रूप वाला है और यह घट की नांई जड़ के धर्म हैं चेतन के नहीं। (२) सारे अनात्म पदार्थ भिन्न २ जाति रखते हैं और आत्मा में कोई जाति नहीं, शरीर भी भिन्न कारण जाति वाला है इस लिये आत्मा नहीं। (३) हमारा प्रति दिन का इन शब्दों का व्यवहार " यह शरीर मेरा है," स्पष्ट प्रकट करता है कि आत्मा शरीर से एक अलग तत्व है। जैसे हम और वस्तुओं के लिये भी ऐसे ही शब्द बोलते हैं जैसे " मेरा घर "। यदि आत्मा अलग न होता तो शरीर को मेरा कहने वाला कोई न होता। हां इस पर एक प्रश्न हो सकता है और वह यह कि पुरुष कहता है 'मैं मनुष्य हूं,स्थूल हूं, वा कृश हूं रूपवान् वा कुरूप हूं, इस प्रकार के व्यवहार से प्रकट होता है कि शरीर ही आत्मा है। पर याद रखो कि इस प्रकार का सारा ज्ञान भ्रान्ति से उत्पन्न होता है और इस भ्रान्ति का कारण यह है कि शरीर का आत्मा के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। (४) जिस प्रकार नाशवान् वस्तु से उस का नाश करने वाला अलग होता है इसी प्रकार इस सारे विश्व के दृश्य का द्रष्टा भी अलग होना चाहिये क्योंकि क्रिया का कर्त्ता सदा क्रिया से अलग हुआ करता है। और जिस लिये शरीर भी एक दृश्य वस्तु है इस लिये इस का द्रष्टा शरीर से अलग है। निदान शरीर को किसी प्रकार भी आत्मा न मानना चाहिये॥

यदि कोई कहे कि शरीर न सही इन्द्रिय तो आत्मा हो सकते हैं क्योंकि यही ज्ञान का मूल हैं तो समझना चाहिये कि इस का विचार भी विरुद्ध है क्योंकि (१) इन्द्रिय तो ज्ञान का साधन हैं और साधन कभी कर्त्ता नहीं हुआ करता, अपितु

कर्त्ता सदा उस से अलग हुआ करता है । जैसा कि लकड़ी के चीरने फाड़ने में कुल्हाड़ा एक साधन है पर चीरने फाड़ने वाला कुल्हाड़े से अलग एक पुरुष है । हम चीरने फाड़ने वाले पुरुष को इस क्रिया का कर्त्ता कहेंगे न कि कुल्हाड़ी को। इसी प्रकार रूप के देखने में आंख, सुनने में कान, स्वाद लेने में रसना, सूंघने में नाक, और स्पर्श में त्वचा एक २ साधन हैं, पर इन सब को अनुभव करने वाला आत्मा इन सब से अलग है (२) जिस प्रकार " मेरा घर " कहने से घर में और अपने में भेद मालूम होता है। इसी प्रकार "मेरी आंख" "मेरा कान " इत्यादि कथन से प्रकट होता है कि मुझ में और इन्द्रियों में भेद है, अर्थात् कि मैं इन्द्रिय नहीं हूं अपितु इन से एक अलग तत्त्व हूं । (३) स्वप्न और सुषुप्ति में आत्मा अपने आप को नहीं भूलता। स्वप्न में वह देखी सुनी वस्तुओं और बातों को देखता है सुनता है और सुषुप्ति में यद्यपि वह किसी वस्तु को नहीं देखता तौ भी वह अपने * स्वरूप को नहीं

* स्वप्न की अवस्था में जो स्वप्न को देखता है इस से प्रकट है कि आत्मा में इच्छा उत्पन्न होती है और वह कोई इच्छा करता है और शरीर तो उस समय काम नहीं करता है इस लिये उस का स्वरूप शरीर से अलग सिद्ध हुआ । सुषुप्ति की अवस्था में भी आत्मा को अपना ज्ञान रहता है, क्योंकि जागने के पीछे पुरुष कहता है 'मैं खूब नींद भर कर सोया, मुझे कोई खबर नहीं रही" इस गहरी नींद और बे खबरी का साक्षी उस समय विद्यमान होता है, तभी वह इस अवस्था को स्मरण करता है । इस से सिद्ध हुआ कि आत्मा सुषुप्ति में स्वरूप को नहीं भूलता ॥

भूलता पर दोनों अवस्थाओं में इन्द्रिय उस के साथ नहीं होते इस से स्पष्ट प्रकट है कि आत्मा का अपना स्वरूप इन इन्द्रियों से अलग है अर्थात् वह इन्द्रियों से अलग रह कर भी अपने अस्तित्व को अनुभव करता है (४) यह बात कि आत्मा इन्द्रियों से एक अलग तत्त्व है एक और प्रकार से भी समझ में आ सकती है जैसे कोई प्रश्न करे कि सारे इन्द्रिय मिल कर आत्मा हैं या प्रत्येक इन्द्रिय अलग २ आत्मा है । अब यदि समुदाय को आत्मा माना जाय तो किसी एक इन्द्रिय के विनाश होने पर आत्मा का नाश मानना पड़ेगा क्योंकि अब उन का समुदाय नहीं रहा । पर ऐसा नहीं माना जाता क्योंकि देखने में आता है कि चक्षुष्मान् पुरुष नेत्रहीन हो जाने पर अपने अस्तित्व से इनकारी नहीं हो जाता । और यदि सारे इन्द्रियों को अलग २ आत्मा माना जाय तो एक शरीर के एक से अधिक आत्मा मानने पड़ेंगे । और एक से अधिक मालिकों में विरोध का होना एक आवश्यक बात है अतएव ऐसी अवस्था में शरीर किसी प्रकार रह ही नहीं सकता । फिर यदि नेत्र आदि इन्द्रियों में किसी एक को आत्मा माना जाय तो नेत्र आदि के नाश हो जाने पर उस वस्तु का स्मरण न रहना चाहिये जिस को उस इन्द्रिय से अनुभव किया था । क्योंकि स्मृति और अनुभव एक ही के सहारे रहते हैं । जिस ने अनुभव किया उसी को स्मरण होता है दूसरे को नहीं । जिस इन्द्रिय ने अनुभव किया था अब वह नष्ट हो गया है इस लिये उस का स्मरण नहीं रहना चाहिये । और न ही यह * प्रत्य-

* प्रत्यभिज्ञा 'वह और यह के मिलाने वाले ख्याल को कहते हैं, जैसे यह ख्याल कि यह वही देवदत्त है जिस को मैंने काशी में देखा था ।

मिज्ञा "कि जिस मैंने सुना था वही मैं देखता हूं" होनी चाहिये क्योंकि देखने वाला और सुनने वाला अलग २ हैं इस लिये इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मा मानना ठीक नहीं॥

मन भी आत्मा नहीं हो सकता (१) क्योंकि मन भी वाह्य इन्द्रियों की नांई एक साधन है कर्त्ता नहीं है (२) यह कहना कि "मेरा मन किसी और जगह था इस लिये मैं यह बात समझ नहीं सका" सिद्ध करता है कि मन आत्मा से एक अलग वस्तु है (३) सुषुप्ति की अवस्था में मन भी लीन हो जाता है और अपना काम करने से रुक जाता है पर चेतनता उस अवस्था में भी विद्यमान रहती है इस से सिद्ध हुआ कि मन और चेतन अलग २ हैं इस लिये मन भी आत्मा नहीं॥

(१) इसी प्रकार यह कहना कि 'मेरी बुद्धि स्थिर न थी' आत्मा और बुद्धि में विवेक कराता है॥ (२) सुषुप्ति में बुद्धि के लीन हो जाने पर चेतनता बनी रहती है इसलिये भी बुद्धि आत्मा नहीं। अहंकार भी आत्मा नहीं क्योंकि अहंकार 'मैं हूं' इस अर्थ का बोधक है और मैं हूं यह क्रिया वाचक शब्द है इस लिये अहंकार भी आत्मा नहीं।

प्राण भी आत्मा नहीं क्योंकि मेरे प्राण कहने से सिद्ध है कि प्राण आत्मा से अलग वस्तु हैं। इसी प्रकार शरीर आदि से अलग जो आत्मा है वह 'तत्त्वमसि' वाक्य में त्वं शब्द का अर्थ है अर्थात् इस वाक्य में जो त्वं शब्द है वह उस आत्मा को प्रकट करता है कि जिस का तुझे उपदेश किया गया है। और इस वाक्य में जो तत् शब्द है वह ब्रह्म का परामर्शक है इस लिये इस सारे वाक्य के यह अर्थ हुए कि 'वह तू है' अर्थात् वह ब्रह्म तू है। उस से तू अलग नहीं अथवा

यह कि वह आत्मा जो शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि अहंकार और प्राणों से अलग एक तत्व है वही ब्रह्म है और वही सब का आत्मा है और वही तेरा स्वरूप है ॥

मण्डन मिश्र ने बड़े विनय से पूछा हे भगवन् ! जीवात्मा तो सम्मूढ़ है और ब्रह्म सर्वज्ञ है । इन दोनों में एकता कैसे हो सकती है । अन्धेरा और प्रकाश न कभी एक थे न हैं और न होंगे । समझ में नहीं आता 'तत्त्वमसि' वाक्य से जीव और ब्रह्म की एकता कैसे सिद्ध हो सकती है ॥

स्वामी शंकराचार्य्य ने बड़े प्यार से उत्तर दिया । निः-संदेह इस वाक्य के शब्दार्थ में विरोध पाया जाता है । पर जैसे " यह वह पुरुष है जिसे मैंने काशी में देखा था " यहां ' वह ' शब्द उस समय वाले को और ' यह ' इस समय वाले को प्रकट करता है अर्थात् वह और यह इन दोनों शब्दों के अर्थों में दो भिन्न काल का सम्बन्ध पाया जाता है । पर जब यह कहा जाता है कि 'यह वह पुरुष है ' तो इस जगह इस समय और उस समय को छोड़ कर दोनों शब्द केवल पुरुष को ही प्रकट करते हैं । ऐसा मानने से इन की एकता हो सकती है अन्यथा इस काल वाला उस काल वाला नहीं हो सकता अंतएव इन की एकता कभी नहीं हो सकेगी । फिर यह कहना ' यह वह पुरुष है ' विरुद्ध होगा, पर वास्तव में यह विरुद्ध नहीं किन्तु यहां शब्दों के अर्थ को छोड़ कर वास्तव तात्पर्य को लक्ष्य में रखना चाहिये अर्थात् उस काल और इस काल के भेद को उड़ा कर पुरुष का एक होना इन शब्दों से प्रकट होता है । इसी प्राकर ' वह तू है ' इस वाक्य में भी सर्वज्ञता और अल्पज्ञता रूप विरोध को छोड़ कर दोनों शब्द

केवल चेतन की एकता के तात्पर्य्य को प्रकट करते हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता। हे सौम्य! 'मैं पुष्ट हूं या दुर्बल हूं' इत्यादि रूप से शरीर आदि को प्रकट करने वाले 'मैं' के ख्याल को छोड़ कर विचार के साथ आत्मा को शरीर आदि से अलग समझ और विवेक बुद्धि के साथ आत्मा को परमात्मा ख्याल कर। हे सौम्य! इसी ज्ञान से मुक्ति लाभ होती है। हे सौम्य! शरीर तो कौए गीदड़ और आग आदि का विरसा है, क्योंकि अन्त में यह इन्हीं की भेंट होता है इस लिये दुःख के घर शरीर में जो ममता है उस को छोड़ और इसी प्रकार बाह्य सम्बन्धों में ममता छोड़ कर अपने चित्त को निर्भय हो कर परमात्मा में लगा। जिस प्रकार एक बड़ा मगरमच्छ नदी में एक किनारे से दूसरे किनारे पर जाता है पर दोनों किनारों से अलग रहता है और इन किनारों से मिला हुआ नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति में घूमता हुआ इन से अलग है. इन में मिल नहीं जाता ये तीनों अवस्थाएं चेतन में कल्पित हैं क्योंकि ये बदलने वाली हैं और चेतन बदलने वाला नहीं वह सब अवस्थाओं में एकरस रहता है। जिस प्रकार रस्सी को देख कर भ्रान्ति से यह ज्ञान होता है कि यह भूमि में कोई लकीर है या यह कि यह सांप है या यह कि यह दण्ड है। यहां 'यह' शब्द सब जगह प्रयुक्त हुआ है यही शब्द यह रस्सी है इस सच्चे ज्ञान में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु लकीर सांप और दण्ड का ज्ञान बदलने वाला है इसी लिये लकीर आदि उस वस्तु में जिस को 'यह' शब्द प्रकट करता है, कल्पना किये गये हैं वस्तुतः वे सच्चे नहीं। ब्रह्म सब के अन्दर और बाहिर विद्य-

मान है पर उसे बाहिर ढूंढने वाला पा नहीं सकता अपने आप में उस को देखो और इस विनाशशील जगत् से किनारा करो॥

इस प्रकार शंकरस्वामी ने मण्डन मिश्र को ज्ञान और वैराग्य का बड़े विस्तार के साथ उपदेश करके उस का नाम सुरेश्वराचार्य्य रक्खा और यह उसी समय से उन के योग्य शिष्यों में गिना गया॥

स्वामी शंकराचार्य्य का प्रचार और काम।

इस के पीछे शंकर स्वामी कुछ काल तक उसी प्रान्त में नर्मदा के किनारे पर ठहरे रहे और सुरेश्वराचार्य्य को वेदान्त का उपदेश करते रहे। तदनन्तर उन्हो ने दक्षिण में महाराष्ट्र आदि देशों में प्रचार का काम आरम्भ किया और यह काम करते हुए कुछ समय पीछे श्री पर्वत पर पहुंचे। इस जगह उन्हों ने अपने शिष्यों को अपनी कृति का अभ्यास कराया। इसी स्थान पर सुरेश्वराचार्य्य और उन के दूसरे शिष्यों ने पाशुपत, शैव, माहेश्वर और वैष्णव मतों का खण्डन करके और इन सम्प्रदायों के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके उन पर विजय लाभ किया और कीर्ति को बढ़ाया। इन मतों के कई पुरुषों ने तो इन शास्त्रार्थों में स्वामी शंकराचार्य्य के मत को स्वीकार किया और वे उन के शिष्य बन गए। पर कुछ पुरुषों को अपने मतों का खण्डन बहुत बुरा मालूम हुआ और उन्होंने शंकर स्वामी को मारने की गुप्त मन्त्रणा की, इस प्रकार के क्षुद्रबुद्धि पुरुषों ने शंकर स्वामी को मारने के लिये

एक कापालिक * को नियत किया। यह पुरुष अपने असली आकार और वेष को बदल रावण की नाईं साधुओं के भेष में शंकर स्वामी की सेवा में आ उपस्थित हुआ। यह देवाकृति पर असुर प्रकृति पुरुष अपने सारे दोषों को भगवे कपड़ों में छिपा जाहरा बड़ी श्रद्धा के साथ शंकराचार्य्य की सेवा में रहने लगा और सब प्रकार दम्भ छल करते हुए भी शंकराचार्य्य के मारने में सफल मनोरथ न हुआ, क्योंकि उन के शिष्यों में से कोई न कोई सदा उन के पास रहता था। अन्ततः उस ने अपने उद्देश को पूरा करने के लिये एक और चाल चली। एक दिन का वर्णन है कि शंकर स्वामी अपने शिष्यों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करके किसी एकान्त जगह पर जा बैठे। यह नीच प्रकृति पुरुष इस अवसर को उत्तम जान उनके पास चला गया और दम्भियों की नांईं आपकी स्तुति करके यूं कहने लगा। हे मुने! मैं आप की सर्वज्ञता सुशीलता और दयालुता आदि उत्तम गुणों को सुनकर आप के दर्शन के लिये बड़ा उत्कण्ठित हो रहा था। आप के इस जगह पधारने का समाचार सुनकर आपकी सेवा में आ उपस्थित हुआ हूं। निःसंदेह आपही एक अद्वितीय महापुरुष हैं कि जिन्हों ने लोक की सारी ममता को तोड़ दिया है। आपने सब द्वैत वादियों के मतों का खंडन किया है। आप इस जड़ शरीर में कोई ममता नहीं रखते आप एक अद्वितीय स्वरूप में मग्न हुए हुए उसी का स्वरूप मालूम होते हैं। सच है आपने केवल परोपकार के अर्थ ही शरीर को धारण किया है इसी कारण से देवताओं में भी आप की स्तुति

---

* वे पुरुष जो भैरव के आगे मनुष्य का बलिदान दिया करते हैं और इस प्रकार स्वभाव से क्रूरहृदय बन जाते हैं।

के गीत गाए जा रहे हैं। आप की कृपा दृष्टि से भले पुरुषोंके दुःख दूर होते हैं आपके आशीर्वादों से लोगों की कामनाएं पूर्ण होती हैं। आप सारे गुणों से सम्पन्न हैं। इसलिये इस योग्य हैं कि सारे लोग आपके सामने सिर झुकाएं आप सब प्रकार की विद्याओं से सम्पन्न हैं। इसी कारण से आप में अभिमान का नाम निशान नहीं। आप विजयशाली हैं इसी लिये शास्त्रार्थ करने वालों पर सदा विजय पाते हैं। आप बड़े उदार हैं क्योंकि आप आत्मा के दाता हैं मानो आप सारे गुणों की खानि हैं। आप जैसे सर्वगुणसम्पन्न पुरुष के चरणों में आकर कोई भी अर्थी अपने बड़े से बड़े अर्थ को भी प्राप्त किये बिना नहीं जाता। मैं भी इसी भरोसे आप के चरणों से मनो-वाञ्छित फल की प्राप्ति की इच्छा रखता हूं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप की असाधारण कृपा से मैं खाली नहीं फिरूंगा।

महाराज! इस प्रयोजन से कि मैं कैलास पर जाकर रुद्र के साथ रमण करूं मैंने सौ वर्ष लगातार उग्र तपस्या करके रुद्र को प्रसन्न कर लिया है और उन्होंने अपना प्रकाश दिखा कर आज्ञा दी है कि यदि तू किसी राजा वा सर्वज्ञ के सिर को अग्नि में डाल हवन करेगा तो अपने प्रयोजन में सफल होगा। यह वर देकर महादेव तो छिप गए और मैं राजा वा सर्वज्ञ की ढूंढ में चारों ओर घूमने लगा। मन्द-भाग्य से न ही आज तक मुझे कोई राजा मिला और न ही कोई सर्वज्ञ। अब भाग्य से मुझे आप का दर्शन लाभ हुआ है। आप सर्वज्ञ होने के साथ जगत् के राग से सर्वथा अलग हैं और सदा लोगों के उपकार करने में लगे रहते हैं मुझे

पूरा विश्वास है अब मेरा काम पूरा हो जायगा। मेरे मनोरथ की सिद्धि के लिये मुझे ऐसे राजा का कि जिसे तिलक दिया गया हो या किसी सर्वज्ञ के सिर का कपाल आवश्यक है। राजा के सिर के कपाल का मिलना तो कठिन है। अब मनोरथ सिद्धि के लिये आप से प्रार्थना है। इस दान से आप को उत्तम फल मिलेगा और मैं अपने मनोरथ को पाऊंगा। यह तो आप जानते ही हैं कि यह शरीर एक न एक दिन नष्ट हो जायगा। यदि इस से किसी का काम निकल जाय तो इस से उत्तम और क्या हो सक्ता है। जो लोक की इच्छाओं में डूबे हैं वे अपने शरीर को छोड़ना नहीं चाहते, पर आप तो सारी लौकिक कामनाओं से विरक्त हैं। आप को शरीर में कोई अभिमान नहीं। आपने तो केवल दूसरों की भलाई के लिये ही यह शरीर धारण किया है। शोक है कि हमारे जैसे पुरुष जगत् के लालचों में फंस कर किसी प्रकार की उच्च नीच की परवाह नहीं करते। पर धन्य हैं आप कि जिनका जीवन दूसरों के लिये है। आप जानते हैं कि इन्द्र ने भी अपने शत्रु मारने के अर्थ वज्र बनाने के लिये दधीचि की हड्डियों को लिया था और उसने बड़ी प्रसन्नता से अपनी हड्डियां इन्द्र की भेंट की थीं। और परोपकारी जीमूतवाहन ने ऐसे ही एक काम के लिये अपना जीवन दान दिया था। इन दोनों ने जो कीर्ति लाभ की वह तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक कि सूर्य्य चन्द्र और तारे विद्यमान हैं। यद्यपि शरीर कोई स्थिर वस्तु नहीं और मैंने भी वह इच्छा की है जिसे भले पुरुष घृणा की दृष्टि से देखें। पर वे पुरुष जिनको किसी वस्तु से राग नहीं, स्वयं वैराग्य की अवस्था में हैं और दूसरों की

भलाई को अच्छी तरह जानते हैं उनके लिये मेरी इच्छा का पूरा कर देना कोई बड़ी बात नहीं। शास्त्र में आया है कि अखंड ब्रह्मचर्य वाले के सिर की खोपरी साधुओं को सिद्धि देती है। हे भगवन्! आप जैसे पुरुष जगत् में कहां हैं आप मुझे दान दें मैं आपको वारम्वार नमस्कार करता हूं।

यह कह कर कापालिक स्वामी शंकराचार्य के चरणों पर गिर पड़ा उन्होंने तत्क्षण उसकी नीचता को ताड़ लिया और बड़ी कृपा से उत्तर दिया मैं तुम्हारी बातों को बुरा नहीं मानता और बड़ी प्रसन्नता से तुम्हारी मनोवाञ्छा पूर्ण करने के लिये तय्यार हूं। कौनसा ऐसा बुद्धिमान् है जो समझता है कि इस शरीर का अन्त नाश है और फिर दूसरों के लिये इसका उत्सर्ग नहीं कर देता? जिस शरीर की बड़ी अच्छी तरह पालना पोषणा की जाती है वह काल की भेंट हो जाता है। यदि इस से किसी की अर्थसिद्धि हो जाय, तो इस से बढ़ कर मनुष्य के लिये और कौन सा उद्देश्य इस जीवन का हो सकता है? जिस समय मैं एकान्त में समाधि लगाय बैठा हूंगा उस समय तुमने आना और मेरे सिर को अपनी कामना के पूरा होने के लिये ले जाना। यदि सब के सामने मैं तुझे अपना सिर उतारने की आज्ञा दूं तो मेरे शिष्य इसमें विघ्न डालेंगे और तेरी इच्छा पूरी न होने पाएगी। क्योंकि तू जानता है कि शिष्यों से अपने गुरु का मृत्यु नहीं सहन किया जा सकता॥

यह प्रतिज्ञा लेकर कापालिक अपने घर को चला गया और शङ्कर स्वामी अपने आश्रम में वापिस चले आए। यहां आकर उन्होंने इस दुर्जन को फल देने का पूरा प्रबन्ध कर

लिया। दूसरे दिन वह नीच शराब के नशे में चूर, माथे पर तिलक लगा गले में खोपरियों की माला पहन, हाथ में त्रिशूल लिये बड़ी प्रसन्नता से इधर उधर देखता हुआ स्वामी शङ्कराचार्य के आश्रम को गया। उसकी आंखें शराब के नशे से लाल थीं और उन से खून टपकता था। उसने देखा कि इस समय शङ्कर स्वामी के सारे शिष्य स्नान करनेके लिये बाहिर गये हुए हैं। ऐसे समय को उसने अपने लिये और भी बहुत उपयोगी पाया और अपना छोटासा खड्ग निकाल वह शङ्कराचार्य का सिर काटने के लिये आगे बढ़ा कि इतने में शङ्कर का एक शिष्य पद्मपाद इस पर शेर की तरह आ पड़ा और उसे यह हाल तबही मालूम हुआ कि जब उसकी पसली में पद्मपाद के त्रिशूल ने अपना काम कर दिया। कापालिक इस पीड़ा को न सहार सका और शोर करता हुआ भूमि पर गिर पड़ा। उसके शोर को सुन कर शङ्कराचार्य के दूसरे शिष्य भी दौड़ आए तो क्या देखा कि कापालिक त्रिशूल से बींधा हुआ भूमि पर गिरा पड़ा है। सच है कि सुधार करने वालों को जान से मारने के लिये नीच और क्षुद्रजन अनेक प्रकार के उचित अनुचित उपाय बर्ता करते हैं।

यहां से तीर्थ यात्रा करते हुए स्वामी शङ्कराचार्य गोकर्ण नामी* एक स्थान पर पहुंचे और केवल तीन दिनों तक इस जगह ठहरे और अपना काम कर वे हरिशंकर नामी एक तीर्थ की यात्रा को चले गये। और यहां से आप मूका अम्बिका†

---

*यहां महादेव की एक मूर्ति है जहां लोग उसके दर्शन को जाया करते हैं।

†इनके दिग्विजय में लिखा है कि शङ्कराचार्य ने यहां एक मृतक को जीवित किया।

देवी के स्थान की ओर पधारे और श्रीवलि नामी एक ब्राह्मणों के गाओं में जा पहुंचे। इस ग्राम में बहुत से विद्वान् और धर्म्मात्मा ब्राह्मण रहते थे। एक कवि इस गाओं के विषय में लिखता है कि जब मृत्यु भी इस गाओं की ओर आता, तो निराश होकर चला जाता क्योंकि वह यहां पाता है कि ब्राह्मण वेदों के पढ़ने और यज्ञ हवन आदि कर्म्मों के करने में सदा लगे रहते हैं, अपने कर्तव्य के पूरा करने में तनिक भी प्रमाद नहीं करते। इस गाओं में दो हज़ार के लगभग ब्राह्मणों के घर थे जो सब के सब अपने नित्य कर्मों के करने में लगे रहते थे। उन ब्राह्मणों में प्रभाकर नामी एक प्रसिद्ध पण्डित था। शास्त्रों की ओर रुचि और यज्ञों के अनुष्ठान के कारण से उस की ख्याति बहुत बढ़ी हुई थी। उस के घर एक लड़का था जो लोक से बिल्कुल बे परवाह था। यह लड़का सदा चुप रहता और उस के चेहरे से पाया जाता कि किसी गहरी सोच में पड़ा हुआ है। उस के इस रीति पर रहने से उसका पिता सदा चिन्ता में रहता वह अपने बेटे को सुदाई सा समझ वैद्यों और साधुओं से उसकी चिकित्सा के लिये प्रार्थी रहता। जब शङ्कराचार्य्य इस गाओं में पहुंचे, तो वह ब्राह्मण अपने लड़के को लेकर आपके दर्शन को आया। उन्हें प्रणाम करके अपने लड़के को शङ्कराचार्य के पाओं पर डाल दिया। और जब तक कि इन्होंने उसे अपने हाथों से न उठाया यह वहीं पड़ा रहा। फिर उस लड़के के पिता ने पूछा। भगवन्! इस लड़के में जड़ता क्यों है, इसका आयु लगभग तेरह वर्ष का है न यह खेलता कूदता है, और न ही पढ़ता लिखता है। कठिनता से इस का उपनयन संस्कार किया है। लड़के खेल

कूद के लिये, इसे बुलाते हैं तो भी उन के साथ नहीं जाता। यदि लड़के इसे मूर्ख समझ ताड़ते हैं, मारते हैं, तो भी यह क्रोध नहीं करता। खाना कभी तो खा लेता है, और कभी नहीं खाता। जिधर मन आता है, चला जाता है, मैंने भी कभी इसे मारा पीटा नहीं। शङ्कर स्वामी ने उस लड़के से पूछा बेटा! बता तू जड़ क्यों है, तो इसने उत्तर दिया मैं जड़ नहीं हूं, किन्तु यह शरीर जड़ है, जो मेरे द्वारा चेष्टा करता है इत्यादि। लड़के के इस प्रकार के उत्तरों को सुनकर शङ्कराचार्य ने उस लड़के के पिता को कहा कि यह लड़का तुम्हारे काम का नहीं इसे मेरे पास छोड़दो इसे वैराग्य है और यह लड़का तुम्हारे लिये क्लेश का हेतु ही होगा। उसके पिता ने उस लड़के को शङ्कराचार्य्य के पास छोड़ दिया। शङ्कराचार्य्य ने उसे शिक्षा देनी आरम्भ की, उसका नाम हस्तामलक रक्खा। यह शिष्य भी स्वामी शङ्कराचार्य्य के विख्यात शिष्यों में से हुआ है। इसने आत्म-विद्या पर बारह श्लोक कहे हैं जो वेदान्त के मत को भली भान्ति प्रकट करते हैं और इसी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस स्थान से प्रस्थान करके शङ्करस्वामी शिष्यों समेत तुङ्गभद्रा नदी के किनारे शृंगेरी में पहुंचे। उस समय में यह स्थान अपनी विद्या की अपेक्षा से बड़ा विख्यात था। जब आप यहां पहुंचे तो आपकी विद्या की ख्याति बहुत जल्द यहां फैल गई और लगातार प्रचार करने के बिना उन्होंने अपने काम को सुप्रबद्ध चलाने के अर्थ अपना पहिला मठ अर्थात् ब्रह्मविद्या का कालेज यहां स्थिर किया। और इस मठ में उन्होंने मण्डन मिश्र की स्त्री के स्मरण में विद्या की देवी सरस्वती की मूर्ति को स्थापन किया।

इस जगह एक विद्वान् आप का शिष्य बना। यह शिष्य आप को बहुत प्यार करता था, छाया की नाईं सदा आपके साथ लगा रहता था, बड़ी श्रद्धा के साथ अपने स्वामी को स्वयं स्नान कराता था। अपने गुरु की आज्ञा को सब प्रकार से पूर्ण करता और उसे अपने लोक परलोक का भला समझता था। निदान यह पुरुष प्रत्येक अङ्ग में स्वामी शङ्कराचार्य्य का एक पक्का भक्त था। एक दिन का वर्णन है कि यह पुरुष अपने गुरु को स्नान करा उनकी धोती धोने के लिये नदी के किनारे पर गया था कि इतने में शङ्कराचार्य्य के दूसरे शिष्य पढ़ने के लिये आ विद्यमान हुए और उस समय की रीति के अनुसार उन्होंने पहिले शान्ति पाठ आरम्भ किया। इस पाठ से निवृत्त होकर वे अपने गुरु से पाठ पढ़ने की इच्छा ही में थे कि शङ्करस्वामी ने उन्हें कहा तनिक ठहर जाओ और गिरि (यह उस शिष्य का नाम था) को आजाने दो। जिस कारण यह पुरुष पढ़ने लिखने की अपेक्षा से सब शिष्य में छोटा समझा जाता था इस लिये शङ्कराचार्य्य के इस कथन पर उनका शिष्य पद्मपाद मुस्कराया। जिस से उसका अभिप्राय यह था कि गिरि जैसे मूर्ख पुरुष के लिये प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं। वह तो अपनी मूर्खता के कारण ब्रह्मविद्या का अधिकारी ही नहीं हो सकता। यद्यपि यह सब सत्य था पर उस पुरुष में अपने गुरुके लिये जो भक्ति थी उसने शङ्कराचार्य्य को भी उसकी नाईं उसका भी प्रेमी बना दिया था और वे हृदय से चाहते थे कि यह पुरुष ब्रह्मविद्या को लाभ करे। सो उनकी कृपा दृष्टि से थोड़े ही समय में गिरि शङ्कराचार्य्य के उत्तम शिष्यों में गिनती होने लगा। इस पुरुष ने संस्कृत भाषा में

कुछ त्रोटक छन्द कहे हैं । जिन में गुरुभक्ति और आत्मतत्व का उत्तम वर्णन है और इन्हीं छन्दों के हेतु से इसको त्रोटकाचार्य्य के नाम से पुकारते हैं और संन्यासियों का गिरि नामक एक बड़ा सम्प्रदाय इसी के नाम पर आज तक आर्य्यावर्त में पाया जाता है इस समय स्वामी शंकराचार्य्य के शिष्यों में चार शिष्य बड़े योग्य थे अर्थात् सुरेश्वराचार्य्य, हस्तामलक, पद्मपाद और त्रोटकाचार्य्य ।

एक बार का वर्णन है कि सुरेश्वराचार्य्य ने एकान्त में शङ्कर स्वामी के सामने विनय से प्रार्थना की । भगवन् ! आप मुझे किसी काम के करने की आज्ञा दें जिस से कि गुरु की सेवा करने से मेरा जीवन सफल हो । इस प्रार्थना को सुनकर शङ्कर स्वामी ने उन्हें अपने भाष्य पर वार्तिक बनाने के लिये कहा और वह इस आज्ञा को पाकर उसके लिये तय्यार होगया कि इतने में दूसरे शिष्यों को इसका वृत्तान्त विदित हुआ । उन में से कई एक ने आप के पास आकर निवेदन किया कि महाराज ! आपने प्रेम के वशीभूत हो बड़ी भूल की है । सुरेश्वराचार्य्य तो कर्मकाण्ड के मानने और प्रचार करने वाला है और इसी धुन में उसने देवों के देव परमात्मा का भी खण्डन किया है और कर्मकाण्ड को सब से उत्तम पदवी दी है उसके विचार में स्वर्ग और नरक पहुंचाने वाला केवल कर्म ही है । ऐसा न हो कि आपके भाष्य पर वार्तिक लिखता हुआ उसको कर्मकाण्ड ही में लेजाए और आप के सारे उद्देश को उलट पलट करदे । और उसने संन्यास आश्रम भी अपनी इच्छा के विरुद्ध ग्रहण किया है यदि शास्त्रार्थ में पराजित होने पर उसे संन्यास आश्रम स्वीकार करने का

का बंधन न लगाया जाता तो वह कभी संन्यासी न होता इस कारण से भी उस पर ऐसे बड़े काम को पूरा करने के लिये भरोसा न करना चाहिये। वह तो कर्मकाण्ड के इतना अनुकूल है कि उसके सामने गृहस्थ आश्रम के विना और सब आश्रम व्यर्थ हैं। पद्मपाद का आपके बुलाने पर नदी को तैर कर आप के पास आना और आनन्दगिरि का अपनी भक्ति का प्रकाश करना पूरे प्रमाण हैं कि ये दोनों आप के पक्के शिष्यों में हैं और विद्या की दृष्टि से भी इस योग्य हैं कि आप के भाष्य पर आपके सिद्धान्तानुसार वार्तिक लिख सकें। हमारी सम्मति में यह सेवा इन दोनों में से किसी के सुपुर्द करनी उचित है॥

स्वामी शङ्कराचार्य ने इन दोनों की अयोग्यता का कारण प्रकट करके कहा कि मण्डन वार्तिक लिखने के लिये योग्य है क्योंकि उसने शास्त्रों का अच्छी तरह अभ्यास किया है और वह उन्हें ठीक समझता है। इसके विना शास्त्रों के अभ्यास में उसकी बड़ी रुचि है। यह शिष्य मुझे बड़ी कठिनता से मिला है पर यदि तुम्हारे विचार में वह इस काम को पूरा करने के अयोग्य है तो मेरे विचारमें आप सबमें से मुझे कोई भी उस के पल्ले का दिखाई नहीं देता। पर मैं वह काम भी करना नहीं चाहता जिस में तुम्हें संदेह है और तुम्हारे कहने से मुझे इस काम को मण्डन के सुपुर्द करने और उसे पूरा होता देखने में संदेह सा होगया है॥

फिर शंकरस्वामी के शिष्यों ने भाष्य पर प्रवन्ध रचने के लिये सनन्दन की सुफ़ारिश की गुरुने कहा निःसंदेह वह यह काम तो कर सकता है पर वार्तिक लिखने की उसमें योग्यता नहीं।

तदनन्तर अवसर पाकर शंकर स्वामी सुरेश्वराचार्य्य को एकान्त में लेगए और उसे वार्तिक लिखने से रोक दिया और कहा कि तुम्हारे दूसरे सहाध्यायी संदेह करते हैं कि तुम इस काम को अच्छी तरह पूरा कर सको। उनका ख्याल है कि तुम वार्तिक लिखते हुए उसमें कर्मकाण्ड के सिद्धान्त को ही सिद्ध कर दोगे इस प्रकार के आपस में विरोध के होते हुए भाष्य पर वार्तिक का लिखा जाना मैं भी पसन्द नहीं करता। उचित है आप अध्यात्म विषय पर एक पुस्तक लिख कर मुझे दिखाएं जिस से कि उस के विषय को देखकर आपके दूसरे सहाध्यायिओं को भी आपकी विद्या और सिद्धान्त का विश्वास हो जाए और साथ ही शंकराचार्य्य ने शोक प्रकट करके कहा कि भाष्य पर वार्तिक न बन सका॥

सुरेश्वराचार्य्य ने अपने गुरुकी आज्ञानुसार थोड़े समय में एक पुस्तक लिख और उस का नाम नैष्कर्म्यसिद्धि रख गुरु की भेंट किया। इस पुस्तक का शंकराचार्य्य ने आरम्भ से समाप्ति तक बड़ा ध्यान देकर विचार किया और फिर उसे अपने दूसरे शिष्यों को दिखलाया। उन्हों ने अब सुरेश्वराचार्य्य की विद्या के सामने सिर झुकाया और कहा निसंदेह जिस प्रकार यह मर्म को समझता है हम में और दूसरा कोई इस के बराबर नहीं। इस पुस्तक के लिखने पर सुरेश्वराचार्य्य का पद सुरेश्वर देशिक होगया। इस पुस्तक में आत्मा को निष्कर्म प्रकट किया गया है और इसकी सिद्धि में बड़ी प्रबल युक्तियें दी गई हैं और साथ ही यह ग्रन्थ प्रणेता ने गुरु के समर्पण किया है। दूसरे सहाध्यायिओं के विषय में सुरेश्वराचार्य्य ने यह शाप दिया भी कहा जाता है कि जिस लिये वार्तिक

लिखने में मेरा विरोध किया गया है इसलिये स्वामी शंकराचार्य्य के भाष्य पर जो वार्तिक लिखा जायगा वह कभी स्वीकृत न होगा और न ही जगत् में वह फैलेगा। और फिर अपने गुरु के सामने उनके हलके विचार का वर्णन करके कहा कि व्यर्थ आपने मुझ पर विश्वास न किया. नहीं तो मैं आप के भाष्य पर वार्तिक लिखता। शंकरस्वामी ने भी अपनी इस भ्रान्ति को अनुभव किया पर अब क्या हो सकता था। अब उन्हों ने सुरेश्वराचार्य्य को कहा कि मैंने जो अपनी तैत्तिरीयशाखा के उपनिषद् पर भाष्य किया है आप उस पर वार्तिक लिखें और आपकी जो कि काण्व शाखा है उसके उपनिषद् पर भी मेरा भाष्य विद्यमान है उस भाष्य पर भी आप एक वार्तिक लिखें और निश्चय जानें कि कोई बात अब मुझे इस इरादे से हटा नहीं सकती। तब अपने गुरु की आज्ञानुसार सुरेश्वराचार्य्य ने इन दोनों उपनिषदों के भाष्यों पर अपने दो वार्तिक लिख कर गुरु की भेंट किये।

सनन्दन ने भी अपने गुरु की आज्ञा से इस भाष्य पर एक व्यख्या लिखी जिस के पहिले भाग का नाम पञ्चपादिका है और दूसरे का नाम वृत्ति।

इसी समय में शंकराचार्य्यके दूसरे शिष्यों आनन्द गिरि आदि ने भी अद्वैतमत पर भिन्न २ पुस्तक लिखकर अपने गुरु की भेंट किये॥

इसी समय में पद्मपाद को तीर्थयात्रा की रुचि हुई और वह अपने गुरु से आज्ञा पाकर तीर्थयात्रा करने के लिये चला गया।

पद्मपाद के तीर्थयात्रा में चले जाने के पीछे शंकराचार्य को अपनी माता की बीमारी का समाचार मिला और वे उसके मिलने के लिये अपने घर की ओर चले गए। उनकी माता उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुई और उनसे विनती की कि अब मैं वृद्ध होगई हूं मेरे मरने तक यहीं रहो और मेरा दाह संस्कार करके फिर कहीं जाना। शंकरस्वामी ने इस बात को स्वीकार किया पर जब उनकी माता का देहान्त होगया तो उन के ज्ञाति के लोगों ने संन्यासी के हाथ से उसे दाह कराने में रुकावट की और कहा कि संन्यासी को इस संस्कार करने की कहीं आज्ञा नहीं। पर शंकराचार्य उसे अपने हाथ से दाह करने पर दृढ़ थे, इस लिये उनकी ज्ञाति का कोई पुरुष इस मृतकसंस्कार में सम्मिलित न हुआ। अगत्या शंकरस्वामी को अपनी माता का शरीर अपने घर के पास ही दाह करना पड़ा। कहते हैं कि इस व्यर्थ विरोध के कारण उन्होंने शाप दिया कि तुम में आगे कोई वेदपाठी नहीं होगा कोई संन्यासी तुम्हारे घरों से भिक्षा नहीं लेगा और तुम्हारे घरों के निकट सदा श्मशान रहेगा। माधव लिखता है कि वहां आज तक न कोई वेद पढ़ता है न ही संन्यासी उनके घरों से भिक्षा करते हैं और उनके घरों के निकट श्मशान भी विद्यमान हैं। इस संस्कार से अवकाश पाकर शंकर स्वामीने नये सिरे से वेदविरोधी मत मतान्तरों का खण्डन करना आरम्भ किया और इस काम को आरम्भ करने से पहिले उनका शिष्य पद्मपाद भी तीर्थयात्रा करके उनसे आ मिला। पद्मपाद की तीर्थयात्रा विषयक वर्णन है कि वह मार्ग में अपने मामा के घर गया और उसके मामा ने पद्मपाद के पास

एक पुस्तक देख कर पूछा कि यह कौनसी पुस्तक है। उसने उत्तर दिया शारीरकभाष्य पर टीका है। पद्मपाद का मामा इस पुस्तक को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे कहा कि लौटने के समय तक इसे यहीं छोड़ जाओ जिस से कि तुम्हारे लौटने तक मैं इसे देख लूं। पद्मपाद ने उसे स्वीकार किया। पर दन्तकथा है कि उस के मामा ने इस पुस्तक को अपने मत के विरुद्ध पाकर अपने घर को आग लगा दी और उसी में यह पुस्तक जल गया। जब पद्मपाद वापिस आया तो उसे अपना पुस्तक और अपने मामा का घर जल जाने का बड़ा शोक हुआ पर पद्मपाद ने कहा कि मैं और ऐसा पुस्तक लिख लूंगा। इसके विषय में एक और भी दन्तकथा है पद्मपाद के मामा ने उसके मनोरथ को समझ कर अबकी बार उसके खाने में एक ऐसा औषध मिला दिया कि जिस से उसकी बुद्धि में अन्तर आगया। पुस्तक का जलना तो ठीक है पर शेष बातों में कोई प्रमाण नहीं॥

पद्मपाद जब अपने गुरु को मालाबार देश में किसी स्थान पर एक मन्दिर में आ मिला तो उसने अपनी यात्रा का सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उस में शारीरक भाष्य पर की टीका के जलजाने का भी वर्णन किया। इस पुस्तक के जलजाने का वृत्तान्त सुन कर शंकराचार्य्य को भी शोक हुआ और उन्हों ने इस टीका के पद्मपादिका भाग के दुबारा लिखने के लिये उसे कहा। इसी स्थान पर मालाबार के राजा ने आ कर आप के दर्शन किये॥

अब स्वामी शंकराचार्य्य की इच्छा नियमपूर्वक प्रचार और शास्त्रार्थ करने की हुई। उन्हों ने अपने सारे शिष्यों को

इकट्ठा करके अपनी इच्छा से सूचित किया और राजा सुधन्वा को कि जिसे कुमारिल भट्ट ने वेदों का अनुयायी बना दिया था अपने साथ लेकर शंकराचार्य रामेश्वर की ओर प्रस्थित हुए उस समय में उस स्थान पर शाक्तमत के लोगों का बड़ा बल था। ये लोग दुर्गा की पूजा किया करते थे और इसी देवी के नाम पर इतनी शराब पीते थे कि मानो शराब उन की प्रकृति में रच गई थी। रामेश्वर में पहुंच कर शंकरस्वामी का पहला काम शाक्तमत के विरुद्ध प्रचार करने का था। उन्होंने युक्ति और शास्त्रों के प्रमाणों से शाक्तमत के मिथ्यात्व को प्रकट करके इस मत के अनुयायियों को अनार्य्य मार्ग पर चलने वाला ठहराया और बहुत से लोगों को इस मत से फेर करके उन्हें अपने मत में दीक्षित किया॥

रामेश्वर में प्रचार करने के पीछे शंकराचार्य्य पाण्ड्य * चोल और द्रविड देशों में प्रचार करते हुए हस्तीपर्वत पर काञ्ची नगरी में पहुंचे और यहां एक और मठ नियत किया॥

इसी प्रकार † आन्ध्र के प्रदेशों में प्रचार करते हुए वेंकटाचल से होते हुए शंकराचार्य्य विदर्भ (विहार) की राजधानी में पहुंचे। यहां के राजा ने आप का बड़ा आदर सत्कार किया। इस जगह पर आप के शिष्यों ने भैरव मत का बड़ा प्रबल खण्डन किया और बहुत से लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाया॥

---

* कृष्णा नदी के परे हिन्दुस्तान के दक्षिण के अन्त्य प्रान्त का नाम है॥

† गोदावरी और कृष्णा का मध्य प्रदेश प्रायः वर्तमान तलंगाना॥

विदर्भ से आप का इरादा करणाटक को जाने का हुआ इस जगह के राजा ने आप को उधर जाने से रोका और कहा वहां कापालिक लोग अधिकता से रहते हैं। वे मूर्ख हैं आप की शिक्षा को सुन नहीं सकेंगे और आप के यश को देख भी न सकेंगे। वेदों से वे बड़े विपरीत हैं, और वेदों का नाम सुनते ही ईर्षा की अग्नि में जल जाते हैं महा पुरुषों के वे शत्रु हैं। पर राजा सुधन्वा ने इस की कुछ अपेक्षा न की किन्तु शंकर स्वामी को कहा आप मेरी विद्यमानता में सब जगह वैदिक धर्म का प्रचार कर सकते हैं आप को इन नीचों से क्या डर है। इस पुष्टि पर शंकराचार्य्य ने अपने इरादे को न बदला और यहां से वे सीधा करणाटक को पधारे। जब यहां आप के पहुंचने की खबर फैली तो लोगों में एक प्रकार का तहलका सा मचगया। कापालिकों का गुरु क्रकच नामी एक साधु श्मशान की भस्म रमाए हाथ में मनुष्य की खोपरी और त्रिशूल लिये और इसी भेष में अपने बहुत से शिष्यों को साथ लिये बड़े गर्व के साथ शंकराचार्य्य के पास आया और उन को संबोधन कर बेधड़क यूं कहने लगा। जो भस्म तूने रमाया है यह तो ठीक है पर मनुष्य की पवित्र खोपड़ी को छोड़ कर यह अपवित्र खप्पर (भिक्षा लेने के लिये साधुओं का एक वर्तन) क्यों पकड़ा है और तुम भैरव की उपासना क्यों नहीं करते। जब तक पुरुष मनुष्य की खोपरी को रुधिर से भर और शराब से भैरव की पूजा नहीं करता, तब तक वह प्रसन्न नहीं होते इत्यादि। राजा सुधन्वा इस धूर्त्तता को न देख सका कि जिस से क्रकच शंकराचार्य्य को संबोधन कर बातें कर रहा था। इस लिये तत्क्षण अपने नौकरों को

आज्ञा दी कि इसे सभा से बाहर कर दो। इस पर क्रकच को बड़ा क्रोध आया उस की आंखें लाल हो गई और अपनी कुल्हाड़ी उठा उसने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं तुम्हारे सिरों को तुम्हारे धड़ों से अलग न करूं तो मेरा नाम क्रकच ही नहीं, यह कह कर वह पुरुष चला गया और थोड़ी देर पीछे अपने बहुत से अनुयायिओं को सन्नद्ध करके शंकराचार्य्य के साथ लड़ने को लाया। ये सारे के सारे पुरुष मद्य पिये हुए और भैरव की जय मनाते चले आ रहे थे। राजा सुधन्वा ने इस घटना को देख अपने सैनिकों को उनके मुकाबिला के लिये तय्यार किया और शास्त्रार्थ से मत मतान्तरों का निर्णय करने के स्थान यहां शस्त्रार्थ बड़े ज़ोर शोर के साथ आरम्भ हो गया। इधर क्रकच ने अपने शिष्यों को राजा सुधन्वा के साथ युद्ध करने पर नियत कर दिया और उधर एक दूसरे समूह के साथ दूसरी ओर से स्वामी शंकराचार्य्य पर स्वयं आक्रमण किया। शंकराचार्य्य ने भी इस समय पर दिखाया, कि वे न केवल विद्या के बल से ही शास्त्रार्थ करने के लिये तय्यार हैं किन्तु अवसर बने पर शारीरिक बल में भी उन के विरोधी उन्हें कम न पायेंगे। मानो इस समय पर शंकराचार्य्य ने द्रोणाचार्य्य का भेष बदल कर अपनी शक्ति का पूरा प्रकाश करके लगभग सारे कापालिकों को शस्त्रहत किया। क्रकच भी इस लड़ाई में काम आया। इस लड़ाई के पीछे पद्मपाद आदि शंकर स्वामी के शिष्यों ने बड़े ज़ोर के साथ प्रचार का काम आरम्भ किया और उन के उपदेशों से बहुत से भैरव मत के अनुयायिओं ने शंकराचार्य्य के मत को स्वीकार कर लिया। शुद्ध करके नए सिरे से उन के संस्कार कराए गये और उन्हें पञ्च महायज्ञों

के करने का उपदेश किया गया । पद्मपाद के उपदेशों का सारांश विशेषतः यह होता था कि मद्य पीने से तुम से ब्राह्मणत्व जाता रहा है । तुम अपने इन उलटे व्रतों को छोड़ कर वेदों के पढ़ने पढ़ाने में तत्पर हो जाओ और नित्य कर्म नियम से किया करो जिस से फिर तुम ब्राह्मण बन जाओ । कापालिकों में इस परिवर्तन को देख कर एक कापालिक भड़क उठा और उसने प्रचार करना आरम्भ किया वर्णाश्रम बनावटी हैं कुदरत ने मनुष्य के लिये दो जातियें बनाई हैं अर्थात् पुरुष और स्त्री इत्यादि । पर इस में उस को सफलता न हुई ॥

इन प्रदेशों में प्रचार करते हुए शङ्कराचार्य हिन्दुस्थान के पश्चिम की ओर चले गए । मार्ग में प्रचार और मत मतान्तरों का खण्डन करते हुए समुद्रतट के निकट गोकर्ण नामी एक स्थान पर पहुंचे । यहां उन्होंने वेदान्त का प्रचार आरम्भ किया। आपके उपदेशों को सुनकर हरदत्तनामी एक ब्राह्मण ने शङ्कराचार्य का सारा वृत्तान्त अपने गुरु नीलकण्ठ को कह सुनाया। यह पुरुष अपने प्रान्त में एक बड़ा प्रसिद्ध विद्वान् था । हरदत्त ने उसे कहा कि शङ्कराचार्य दिग्विजय करते हुए आये हैं और अब आपके साथ शास्त्रार्थ करना चाहते हैं ॥

नीलकण्ठ शैवमतानुयायी था और इस मत पर उसने बहुत से पुस्तक लिखे थे यहां तक कि वेदान्त सूत्रों पर अपना भाष्य कर उसने भी उन से शैवमत को ही सिद्ध किया था और उसे अपनी विद्या पर बड़ा अभिमान था । शङ्कराचार्य के आने का समाचार सुनकर यह पुरुष श्वेत भस्म रमाए रुद्राक्ष की माला पहने और अपने शिष्यों को इसी भेष में अपने साथ ले शङ्कराचार्य के पास आया । उन्होंने इस विद्वान् का बड़ा

आदर सत्कार किया । कुछ देर तक आपस में बात चीत होने के पीछे शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ । नीलकण्ठ अपना मत वेदान्त ही से सिद्ध करता था और शङ्कराचार्य्य उसका खण्डन करते थे । आपस में बहुत से प्रश्नोत्तर होते रहे पर वेदान्त से नील-कण्ठ अपना मत सिद्ध न कर सका अन्ततः उसने वेदान्त मत पर आक्षेप करने आरम्भ किये । इस शास्त्रार्थ में बहुत सी बातें वही हैं जिनका वर्णन पाशुपत मतका वर्णन करते हुए कर आए हैं । दोनों ओर से जो नई युक्तियें दी गई हैं उनका यहां वर्णन करते हैं ॥

नीलकण्ठ—'तत्त्वमसि' से जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती क्योंकि जीव अल्पज्ञ और ईश्वर सर्वज्ञ है ॥

शङ्कराचार्य्य—अल्पज्ञता और सर्वज्ञता को छोड़कर चेतनता में दोनों एकही हैं क्य.कि दोनों चेतन हैं ॥

नीलकण्ठ—दोनों के एक न होने में सैंकड़ों प्रमाण हैं जिन का खण्डन किसी प्रकार नहीं हो सकता । खण्डन की बात को छोड़ कर भी यदि एक भाग के उड़ाने से दूसरे भाग को लेकर एकता हो सकती है तो गौ का गायपन और घोड़े का घोड़ापन उड़ा देने से पशु होने में दोनों एक ही हो जाते हैं इसलिये आपकी युक्ति के अनुसार गौ को घोड़े से अलग नहीं मानना चाहिये । जो बात प्रमाण से सिद्ध हो उसका त्याग नहीं कर सकते । जैसे प्रत्येक पुरुष मानता है कि मैं ईश्वर नहीं हूं, इस से सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म में भेद है । भला बतलाइये इस प्रमाणसिद्ध बात का खण्डन कैसे हो सकता है ।

शङ्कराचार्य्य—सुनो 'तत्त्वमसि' के पदों के अर्थ में यद्यपि

विरोध प्रतीत होता है पर वास्तव में जिस प्रकार इस वाक्य में कि "यह वही देवदत्त है जिस को मैंने काशी में देखा था" विरोध के अंश को छोड़ कर दोनों शब्द एक ही देवदत्त को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार अल्पज्ञता और सर्वज्ञता दोनों को छोड़दें तो केवल चेतन ही सिद्ध होता है इस पर आक्षेप किया गया है कि यदि गौ और घोड़े के विरुद्ध अंश को छोड़ दें तो उन्हें भी एक ही मानना पड़ेगा यह इस लिये ठीक नहीं कि इन के एक होने में कोई प्रमाण नहीं और जीव और ब्रह्म के एक होने में 'तत्त्वमसि' यह श्रुति प्रमाण है।

नीलकण्ठ—प्रमाण से भी इन दोनों की एकता तब सिद्ध हो सकती है। यदि अल्पज्ञ और सर्वज्ञ के परे कोई स्वरूप हो। पर वास्तव में जीव का स्वरूप ही अल्पज्ञ और ब्रह्म का स्वरूप ही सर्वज्ञ है इन से परे जीव और ब्रह्म का और कोई स्वरूप नहीं कि जिसमें से सर्वज्ञता और अल्पज्ञता को भिन्न करके एकता मानी जाय। देवदत्त का जो दृष्टान्त दिया गया है उस में 'यह' और 'वह' शब्द काल के बोधक हैं और काल तो देवदत्त के के स्वरूप से अलग है इसलिये काल के उड़ा देने से देवदत्त की एकता सिद्ध होती है, पर जीव की अल्पज्ञता और ब्रह्म की सर्वज्ञता उनका निजधर्म है इस लिये ये दोनों धर्म अपने धर्मियों से अलग नहीं हो सकते अतएव जीव और ब्रह्म में एकता नहीं हो सकती॥

शङ्कराचार्य्य—जीव और ब्रह्म का स्वरूप जो हम समझते हैं वह कल्पित है और कल्पित वस्तु का अधिष्ठान (जिस में

यह कल्पना की गई है) उस से अलग होता है ॥

नीलकण्ठ—आप इन्हें कल्पित मानते हैं मैं तो ऐसा नहीं मानता क्योंकि इनके विना और कोई असली वस्तु प्रतीत नहीं होती।

शङ्कराचार्य्य—आप भी शरीर से लेकर अहंकार तक सभी वस्तुओं को जड़ समझते हैं और इन में 'मैं' यह बुद्धि आत्मा की है तो भी आप इस को कल्पित कह कर इस से परे एक तत्त्व का अस्तित्व समझते हैं और उस को आत्मा का स्वरूप मानते हैं इसी प्रकार यहां भी उसका वास्तव स्वरूप प्रकट नहीं होता किन्तु उसका वास्तव स्वरूप इस अल्पज्ञ और सर्वज्ञ मालूम होने वाले से परे उस का चेतन स्वरूप है और जीव ईश्वर से भिन्न नहीं क्योंकि ईश्वर भी वास्तव में चेतन है सर्वज्ञता उस की कल्पित है जैसे शरीर को मैं समझना कल्पित है। किञ्च यदि भेद सत्य होता तो श्रुति भेद मानने वाले के लिये भय का क्यों उपदेश करती ॥

य उदर मन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति।

जो थोड़ा भी भेद करता है उसके लिये भय है ॥

किञ्च, श्रुति एकता के समझने में ही मुक्ति को प्रकट करती है ॥

तत्र को मोहः कःशोकःएकत्व मनुपश्यतः।

उस अवस्था में जब एकता को देखता है तो उस के लिये क्या मोह और क्या शोक है। यह कहना कि "मैं ब्रह्म नहीं हूं," इस का खण्डन नहीं कर सकते क्योंकि यह प्रत्यक्ष

प्रमाणसिद्ध है । सुनिये इस का उत्तर यह है प्रत्येक पुरुष चन्द्र को बालिश्त भर का समझता है और इसे वह प्रत्यक्ष देखता भी है। पर वास्तव में यह असत्य है इस लिये इस बुद्धि का त्यागना ही उचित है। चन्द्र के यथार्थ परिमाण को प्रकट करने वाले शास्त्र का ही यहां प्रमाण मानना पड़ेगा वा उन लोगों का कहना प्रमाण होगा जो इस विद्या से अभिज्ञ हैं। इसी प्रकार आप का यह प्रत्यक्ष प्रमाण कि "मैं ब्रह्म नहीं हूं" चन्द्र के दृष्टान्त के तुल्य है। इस विषय में भी शास्त्रों का कथन वा उन लोगों का जिन्हों ने आत्मविद्या लाभ की है प्रमाण हो सकता है दूसरों का नहीं ॥

नीलकण्ठ—सारे ऋषि एकता के विरुद्ध हैं उन सब को त्याग कर आप कैसे एकता को सिद्ध करते हैं और आप का कहना कैसे माना जा सकता है ॥

शंकराचार्य - सारे ऋषियों का कहना वेदों की राजाज्ञा के सामने दुर्बल है क्योंकि वह ईश्वर का वाक्य हैं और यह ऋषियों का कहना है । सो वेद के विरुद्ध सारे जगत् का कहना कभी प्रमाण नहीं हो सकता।

नीलकण्ठ—ऋषियों की आज्ञा जो युक्तियुक्त हैं वे किस प्रकार प्रमाण नहीं हो सकतीं। आत्मा के अनेक होने में अनेक युक्तियें हैं उन में से कतिपय का वर्णन करता हूं सुनिये (१) सुख और दुःख आदि गुण सब आत्माओं में भिन्न२ प्रतीत होते हैं यदि सब में एक आत्मा माना जाय तो एक के सुखी होने में सब सुखी और एक के दुःखी होने में सब दुःखी हों (२) यदि आत्मा एक हो तो दुःखी से दुःखी आत्मा भी सारे लोक

के सुख को लाभ कर सके (३) फिर किसी एक का सुखी और किसी एक का दुःखी होना भी अनुभव न होना चाहिये (४) चेतन ही सब प्रकार की क्रियाओं का कर्त्ता होता है जड़ कभी कर्त्ता नहीं हुआ करता इस लिये भोगने का भी वही कर्त्ता है यदि अन्तःकरण को कर्त्ता मान कर भोगने वाला चेतन को माना जाय तो यह भी नहीं हो सकता क्योंकि देवदत्त के कर्म के फल को यज्ञदत्त नहीं भोग सकता । फिर मुक्ति भी दुःखों का नाश है क्योंकि सारे सुख, दुःख से मिले हुए हैं इस लिये विष से मिले हुए अन्न की नाईं उन का त्यागना ही उचित है ॥

शंकराचार्य्य—सुख दुःख का न्यूनाधिक और अलग २ होना मन का धर्म है इससे आत्मा को अनेक नहीं मान सकते किन्तु इस से तो अन्तःकरण का भेद सिद्ध होता है चेतन का जड़ शरीर के साथ विशेष सम्बन्ध इस में कर्तृत्व उत्पन्न कर देता है और जिस लिये वह विशेष सम्बन्ध घट आदि में नहीं इस लिये वे कर्त्ता नहीं । विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख यद्यपि दुःख से मिला हुआ है तो भी उन में न लीन होने वाला ब्रह्मानन्द दुःखमिश्रित नहीं इस लिये ऐसे सुख का लाभ करना ही मुक्ति है न कि दुःख का नाश मात्र ॥

इस प्रकार का नीलकण्ठ और शंकराचार्य्य के मध्य शास्त्रार्थ होता रहा । शंकर दिग्विजय में लिखा है कि अन्ततः नीलकण्ठ शास्त्रार्थ में पराजित हुआ और उसने हरदत्त आदि अपने शिष्यों समेत शंकराचार्य्य का मत स्वीकार कर लिया पर शास्त्रार्थ में जो युक्तियें दोनों पक्षों से हुई हैं उन से तो यह सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ की युक्तियों का कोई प्रबल

खण्डन शंकर स्वामी नहीं कर सके ॥

इस शास्त्रार्थ के पीछे शंकराचार्य सुराष्ट्र (दक्षिण गुजरात) आदि प्रान्तों में प्रचार करते हुए द्वारिका में पहुंचे । इस जगह पञ्च रात्रों * के मत का बड़ा बल था। आपके शिष्यों ने इस मत का बड़ा प्रबल खण्डन किया और फिर शंकराचार्य्य वैष्णव, शैव, शाक्त और सौर आदि मत मतान्तरों का खंडन करते हुए अपने शिष्यों समेत उज्जैन में पधारे और इस जगह उन्हों ने महाकाल के मन्दिर में स्थिति की । यहां से उन्होंने अपने शिष्य सनन्दन को भट्टभास्कर की ओर प्रस्थित किया। यह पुरुष अपनी विद्या के हेतु बड़ा प्रसिद्ध पण्डित था। इस की अपनी बहुत सी कृति है उपनिषदों पर इसने भाष्य किया था। यह पुरुष अपने मत में शंकराचार्य्य से भेद रखता था। सनन्दन के जाने पर यह पुरुष शंकराचार्य्य को मिलने आया। शंकर दिग्विजय में इस के शास्त्रार्थ होने और इस पर विजय लाभ करने का वर्णन है। पर उस ने शंकराचार्य्य के मत को स्वीकार नहीं किया और न ही उसने अपनी हार मानी है।

---

* यह सम्प्रदाय पांच भेदों का मानने वाला है। (१) जीव और ईश्वर का भेद (२) जीवों का परस्पर भेद (३) जीव और जड़ का भेद (४) ईश्वर और जड़ का भेद (५) जड़ों का आपस में भेद। इस सम्प्रदाय के लोग लोहे के शंख और चक्र आदि से अपनी भुजाओं पर चिन्ह लगवाते हैं। मस्तक पर ऊपर की ओर तिलक लगाते हैं और कानों में तुलसी के पत्ते पहनते हैं इनके शास्त्रों में इन चिन्हों को मोक्ष का द्वार लिखा है ॥

उस के साथ क्या और किस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ इस बात का पता नहीं मिलता । तथापि शंकराचार्य्य का अपनी कृति में उस के मत का खण्डन करना सिद्ध करता है कि शंकरस्वामी की युक्तियों को उस पुरुष ने स्वीकार नहीं किया और इसी कारण से उन्हों ने उस के मत का बार २ खण्डन किया है ॥

इन प्रान्तों में प्रचार करके शंकराचार्य्य वाल्हिक के प्रान्तों की ओर पधारे इन प्रान्तों में जैनमत वालों का बड़ा बल था यहां उन के जैनमत वालों के साथ शास्त्रार्थ हुए ॥

जैनमत के शास्त्रार्थों का वर्णन करने से पहले उचित मालूम होता है कि जैनमत वालों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन करें क्योंकि उनकी परिभाषा जाने बिना दोनों ओर की युक्तियें समझ में नहीं आएंगी ॥

जैनियों का सिद्धान्त है जीव और अजीव दो पदार्थ हैं । प्राणधारी जीव और जड़ अजीव हैं । फिर यह मानते हैं (१) जीवास्तिकाय (२) पुद्गलास्तिकाय (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाशास्तिकाय ॥

जीवास्तिकाय तीन प्रकार का है । बद्ध, मुक्त और नित्य-सिद्ध । अर्हन्त (इस मत का आदि गुरु) नित्य सिद्ध है और जीव कई तो साधनों द्वारा मुक्त हो चुके हैं और कई बद्ध हैं । पुद्गलाःस्तिकाय छः प्रकार का है—पृथिवी, जल, तेज, वायु, स्थावर और जंगम । जैन शास्त्र के अनुकूल कर्म करने से अन्तःकरण पर जो शुभ संस्कार जमते हैं, वह धर्मास्तिकाय है और शास्त्रों के विरुद्ध चलने से जो अशुभ संस्कार जमते हैं वह अधर्मास्तिकाय है। जीव का स्वभाव ऊपर जाने का है यही

अधर्मास्तिकाय उस को शरीर में रोके रखता है। आकाशास्तिकाय दो प्रकार का है लोकाकाश और अलोकाकाश। इस लोक के ऊपर २ स्थित लोकों के मध्यवर्त्ती जो आकाश है वह लोकाकाश और उन के परे जो मोक्ष स्थान है वहां अलोकाकाश है। विषयों में प्रवृत्ति का नाम आस्रव है। शमादि प्रवृत्ति का नाम संवर।

आठ प्रकार के कर्म बन्धन में डालने वाले हैं पहले चार घाति कर्म अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और आन्तराय। तत्त्वज्ञान से मुक्ति नहीं होती यह ज्ञानावरणीय। जैन शास्त्रों के सुनने से मुक्ति नहीं होती यह दर्शनावरणीय। तीर्थंकरों के बताये मार्गों में से विशेष का निश्चय न होना मोहनीय। मोक्ष मार्ग पर चल कर भी विघ्न डालने वाले ज्ञान का नाम आन्तराय है। ये मुक्ति से हटाने वाले हैं इस लिये इन का नाम घाति कर्म है। चार अघाति कर्म हैं। मेरे लिये जानने योग्य तत्व है यह वेदनीय है। मैं इस नाम वाला हूं यह नामिक कर्म है. मैं गुरु अर्हंत के शिष्य वंश में प्रविष्ट हुआ हूं यह गोत्र कर्म है, शरीर की स्थिति के लिये आयुष्क कर्म है। ये तत्व के जितलाने वाले शुक्ल पुद्गल के आश्रय रहते हैं इस लिये अघाति कर्म हैं॥

प्रत्येक पदार्थ के लिये सप्त भंगी न्याय मानते हैं। (१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्ति च नास्ति च (४) स्यादवक्तव्यः (५) स्यादस्ति चा वक्तव्यः (६) स्यान्नास्ति चा वक्तव्यश्च (७) स्यादस्ति नास्ति चा वक्तव्यश्च। प्रत्येक वस्तु का अस्ति और नास्ति दो रूप हैं। उन में से अस्तित्व के कहने की इच्छा से पहिला भंग, नास्तित्व की इच्छा में दूसरा.

क्रम से दोनों के कहने की इच्छा में तीसरा, एक साथ दोनों के कहने की इच्छा से चौथा, पहले और चौथे भंग की इच्छा में पांचवां, दूसरे और चौथे की इच्छा में छटा तीसरे और चौथे की इच्छा में सातवां भंग होता है ॥

इस मत पर जो शास्त्रार्थ हुआ उस का संक्षिप्त वृत्तान्त यह है ॥

शंकराचार्य्य--जीवास्तिकाय किस प्रकार का है ॥

जैनी--शरीर के परिणाम वाला और आठ कर्मों से बन्धा हुआ ॥

शंकराचार्य्य--दो पदार्थ नित्य हो सकते हैं विभु और अणु । तीसरा मध्यम परिमाण वाला सदा अनित्य होता है जैसे शरीर आदि । इसी प्रकार आत्मा भी मध्यम परिमाण वाला होने से अनित्य ठहरेगा (२) शरीर का परिमाण कोई नियत नहीं इस लिये मनुष्य का जीव जब मनुष्य के शरीर में है तो उस के शरीर के बराबर है जब वह हाथी के शरीर में जायगा तो हाथी के सारे शरीर में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा उसके केवल एक देश में रहेगा और उस का शेष भाग निर्जीव रहेगा और यदि वह मच्छर के शरीर में जायगा तो उस में सारा प्रविष्ट न हो सकेगा उस के शरीर से बाहर भी जीव रहेगा । किञ्च इसी शरीर में बचपन, यौवन और बुढ़ापे में भी यह दोष आता है क्योंकि शरीर सदा बदलता रहता है ॥

जैनी--जीव के अवयव अनन्त हैं वे ही छोटे शरीर में घने हो जाते हैं और बड़े में फैल जाते हैं जैसे दीप के अवयव घड़े में बंद और घर में फैल जाते हैं ॥

शंकराचार्य्य--वे अनन्त अवयव एक जगह पर रह सकते

हैं वा नहीं यदि नहीं तो बहुत छोटे शरीर में नहीं आ सकते यदि एक ही जगह दूसरे अवयव भी समा सकते हैं तो सारे अवयव मिल कर एक अणु बन जायगा और दीप के अवयव तो घड़े के बाहर भी रहते हैं इसी लिये घड़ा तंपा हुआ मालूम देता है। किञ्च, यदि जीव शरीर के बराबर है तो उस के अवयवों का अनन्त होना ख्याल में भी नहीं आ सकता॥

जैनी—बड़े शरीर में प्रविष्ट होते हुए कई अवयव उसके साथ आ मिलते हैं और छोटा होते समय अलग हो जाते हैं॥

शंकराचार्य्य—आने जाने वाले ये अवयव शरीर की नाई आत्मा नहीं समझे जा सकते किन्तु शरीर की नाइ समझे जा सकते हैं। किञ्च ऐसा मानने से आत्मा में विकार आता है क्योंकि अवयवों के आने जाने से उसका बढ़ना घटना है तो वह बदलने वाला हुआ और जो बदलने वाला है,उसके अनित्य होने में क्या सन्देह है तब बन्ध और मोक्ष का मानना भी व्यर्थ है।

जैनी—आने जाने वाले अवयव भी आत्मा के नित्य हैं और सदा स्थिर रहने वाले भी नित्य हैं। इसलिये उनका सम्बन्ध भी नित्य है।

शंकराचार्य्य—क्या वे सब चेतन हैं वा जड़।

जैनी—चेतन।

शंकराचार्य्य—अनेक चेतनोंमें विरोध का होना आवश्यक है, और आपस के विरोध में शरीर की स्थिति नहीं बन सकती।

जैनी—जैसे बहुत से घोड़े एक अभिप्राय से रथ चलाते हैं इसी प्रकार चेतन मिलकर एक शरीर को चलाते हैं।

शंकराचार्य्य—घोड़ों का नियन्ता सारथि होता है तब वे मिलकर रथ को चलाते हैं तुम जिनको चेतन मानते हो

उनका नियन्ता कोई नहीं मानते । और नियन्ता के विना जीव का शरीर में आना जाना भी नहीं बन सकता। यह भी बताओ कि आनेवाले और निकल जाने वाले जो अवयव हैं वे कहां से आते और किस में लीन होते हैं ।भूतों में तो ये अवयव है नहीं और न उन में लीन हो सकते हैं क्योंकि जीव भूतों का कार्य्य नहीं, न ही कोई और साधारण वा असाधारण आधार वर्णन किया जा सकता है क्योंकि उसके लिये कोई प्रमाण नहीं । किञ्च इस प्रकार जीव का कोई स्वरूप स्थिर नहीं होसकता क्योंकि आने जाने वाले अवयवों का कोई नियत परिमाण नहीं, इस प्रकार इस में और भी कई प्रकार के दोष आते हैं ।

जैनी इन आक्षेपों का कोई उत्तर न देसका तो फिर शंकराचार्य्य ने उसे समझाया कि जैनमत के अनुसार मुक्ति की अवस्था में होने वाले जीव के परिमाण को नित्य माना जाता है तब आदि और मध्य के परिमाण को भी नित्य मानना चाहिये क्योंकि उसके भिन्न होने में कोई प्रमाण नहीं । ऐसी अवस्था में जीव का परिमाण एक ही प्रकार का माना जायगा और वह किसी दूसरे शरीर में बदल नहीं सकेगा पर ऐसा मानना तुम्हारे मत के विरुद्ध है । तुम्हारा सप्त भंगी न्याय भी युक्ति युक्त नहीं क्योंकि एकही वस्तुमें एकही समयमें अस्तित्व और नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सक्ते । यदि तुम्हारे तीर्थङ्कर किसी वस्तु का स्वरूप स्थिर नहीं करते तो वे प्रत्येक वस्तुके ज्ञान में संदिग्ध क्यों नहीं समझे जा सकते और जो स्वयं संदिग्ध हैं उन का कथन कैसे प्रमाण हो सकता है ॥

इस प्रकार इन प्रान्तों में जैनमत का खंडन करते हुए शंकराचार्य्य नैमिष में गये और वहां उन्होंने अपने प्रचार को

प्रवृत्त रक्खा। इस प्रान्त से वे दरद, भरत, शूरसेन और कुरु-पञ्चाल आदि देशों की ओर चले गए॥

इन देशों में प्रचार करके उन की इच्छा कामरूप (आसाम) की ओर जाने की हुई। लिखा है कि यहां अभिनवगुप्त नामी एक बड़ा पण्डित था उस ने शाक्तमत के अनुकूल ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य किया था। इस स्थान पर पहुंच कर शंकरस्वामी का उस पण्डित के साथ शास्त्रार्थ हुआ और उन्होंने इस पर भी विजय लाभ कर के इसे अपना शिष्य बनाया। दिग्विजय में लिखा है कि यह पुरुष जाहरा शंकराचार्य्य का शिष्य बन गया पर वास्तव में वह इनको वध करने की इच्छा से उन के साथ हो लिया था॥

कामरूप से शंकराचार्य्य उदीच्य (उत्तरीय हिन्द) विदेह (नयपाल, सीतामढ़ी, सीताकुण्ड और चम्पारण्य का उत्तर पश्चिम प्रान्त) और कौशल आदि देशों में फिरते हुए अंग (पूर्वीय विहार) और वंग (पूर्वीय बंगाल) के प्रान्तों में प्रचार करते हुए गौड़देश की ओर चले गये। वर्णन किया जा ा है कि अभिनवगुप्त ने इस जगह शंकराचार्य्य पर जादू का हाथ चलाया और इस जादू के असर से शंकराचर्य्य को भगंदर रोग होगया उस की बहुत चिकित्सा हुई पर कोई लाभ न हुआ॥

इस बीमारी में शंकराचार्य्य ने प्रचारके काम को ढीला नहीं किया। कश्मीर की प्रशंसा सुन कर आप का विचार उधर जाने का हुआ। इस देश की सैर और प्रचारके सिवाय शंकराचार्य्यका अभिप्राय वहां शारदानिवासके देखने का भी था। लिखाहै कि उस समय में इस स्थान पर भिन्न२ मतोंके विद्वान्

रहा करते थे। इस भवन के चार द्वार थे। पूर्व के रहने वाले पूर्वके द्वार से और दक्षिण के रहने वाले दक्षिण के द्वार से इस मन्दिर में प्रविष्ट होते थे यदि वे सारे प्रश्नों का उत्तर दें। अर्थात् यह स्थान केवल विद्वानों की यात्रा के लिये नियत था। शंकराचार्य्य प्रचार का काम करते हुए इस स्थान पर पहुंचे। आप दक्षिण के रहने वाले थे इसलिये दक्षिण के द्वार से इन्हें इस मन्दिर में प्रविष्ट होना था। मर्यादानुसार वैशेषिक, न्याय, सांख्य, बौद्ध और जैन आदि शास्त्रों सम्बन्धी प्रश्न आपसे किये गये जिनका युक्तियुक्त उत्तर आपने दिया और अन्दर जाकर इस मन्दिर का दर्शन किया। फिर इसी जगह उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार आरम्भ किया इसका फल यह हुआ कि यह अद्भुत स्थान आपको मिल गया और यहां उन्हों ने अपना मठ स्थिर करके ब्रह्मविद्या की शिक्षा को प्रवृत्त किया। यहां उन्होंने अपने शिष्यों में से कई शिष्यों को छोड़ा और आप बद्रीनारायण की ओर चलेगये और बद्रीनारायण से आप केदारनाथ गये और यहां पूर्ण युवावस्था में छः मास तक बीमार रहकर अपने जीवन का उद्देश पूर्ण करते हुए कुल बत्तीस वर्ष की आयु में संवत् ८७७ विक्रमी में इसी भगंदर की बीमारी से परलोकवासी हुए। आपकी मृत्यु से जो त्रुटि देश को पहुंची उसका वर्णन करना वर्णन की शक्ति से बाहिर है। आप की छोटीसी आयु और उस में इस आश्चर्य्य की विद्या आप के लगातार प्रचार और आर्य्यावर्त्त के विद्वानों से शास्त्रार्थों ने आप को सारे देश में विख्यात कर दिया था। यद्यपि भिन्न २ मत मतान्तरों के लोग जो आप से सहमति न रखते थे आप को बुरा भला कहते हों पर आप की

विद्या और धर्म के हेतु प्राणार्पणमें किसी को संदेह न था। धार्मिक जगत् में जो तहलका आपने अपने उपदेशों से मचा दिया था उसे देश अनुभव करता था। आप के अपने जीवन में ही आप के उद्देश को भारी सफलता हो गई थी क्योंकि आप को अपने सिद्धान्तों की सचाई पर इतना भरोसा था कि जिस के साथ आप शास्त्रार्थ करते उसके साथ पहिले यह शर्त बांध लेते कि यदि मैं हारा तो आप का मत स्वीकार करूंगा और यदि आप हारे, तो आपको मेरा मत स्वीकार करना होगा जितने शास्त्रार्थ उन्होंने किये उन सबमें प्रायः आपका विजय हुआ और प्रतिपक्षियों ने आप के मत को स्वीकार किया। इसका स्वाभविक प्रभाव आपके जीवन में ही बहुत बड़ा हुआ और लोगोंने आप के मत को बहुतायत से स्वीकार कर लिया।

स्वामी शंकराचार्य्य का चित्र और चरित्र।

स्वामी शङ्कराचार्य्य आकार में लम्बे थे उनके शरीर के अवयव गोल थे सिर पर मस्तिष्क की जगह तनिक ऊपर की ओर बढ़ी हुई थी आंखें बड़ी और शरीर में बड़े थे। आप में काम करने की बड़ी और न थकने वाली शक्ति थी। अपने जीवन में लगातार काम करते रहे और कभी किसी प्रकार की शिकायत नहीं हुई। देश में आपने उन दिनों प्रचार का काम एक सिरे से दूसरे सिरे तक किया जिन दिनों कि मार्ग अतिक्रम करने के साधन सर्वथा अपर्य्याप्त थे। मार्ग में कई प्रकार की रुकावटों का मुकाबिला करना पड़ता था। आप की प्रकृति में दिलेरी और निर्भयता कुदरत ने कूट २ कर भर रक्खी थी और यह उन के जीवन में उन के उद्देश के काम में बड़ी सहायता करने वाली सिद्ध हुई॥

अपने संकल्प के शङ्कराचार्य्य बड़े पक्के थे जिस काम को करने का संकल्प कर लेते उसे कर ही डालते। अपनी माता से संन्यास आश्रम में प्रवेश होने की आज्ञा लाभ करना और अपनी छोटी सी आयु में ही उसे धमकी देकर इस काम में उसकी आज्ञा लाभ कर लेना प्रकट करता है कि छोटी सी आयु में ही इनमें संकल्पशक्ति किस दरजा की थी।

आप में मनुष्यों को अपना बना लेने की एक अद्भुत शक्ति थी। जब प्रचार का काम अभी नियमतः आरम्भ भी न किया था कि केरल देश का राजा आप की विद्या की खबर सुनकर आप के पास आया और आप ही का हो लिया। राजा सुधन्वा भी इसी प्रकार आप की सारी आयु आपका विश्वस्त साथी रहा। जिन विद्वानों ने आपका मत स्वीकार किया उनके हृदय में दिन प्रतिदिन आपकी भक्ति अपना बल पकड़ती गई।

आप अपने सिद्धान्तों के बड़े पक्के विश्वासी थे इस लिये शास्त्रार्थ के समय प्रतिवादी को अपना शिष्य या उसका शिष्य बनने की शर्त बांधते और उसमें बड़ी अद्भुत और प्रबल युक्तियों के साथ इन लोगों को स्वीकार कराते। मानो जहां उन्हें अपनी विद्या पर भरोसा था, वहां ब्रह्मविद्या को ज़ोर से फैलाने का उत्साह उस विद्या को अधिक चमका देता था। इतनी विद्या और ख्याति के साथ आप परले दर्जे के वैराग्यवान् थे। धन दौलत का आप में बचपन ही से पूरा त्याग था। केरल के राजा ने जो उपहार आपको भेजे सारे के सारे धन्यवाद के साथ लौटा दिये। वैराग्य के साथ उसका दूसरा धर्म निर्मान भाव है जो उन में अपने वैराग्य से किसी अंश में न्यून न था॥

आप इस शताब्दी के सुधारक **स्वामी दयानन्द सरस्वती** की नांई बाल ब्रह्मचारी थे और अपने ब्रह्मचर्य की सारी शक्ति को प्रचार में लगा दिया था। जिस प्रकार इस शताब्दी में दयानन्द सरस्वती के शत्रु से शत्रु भी उन के आचरण पर दोषारोप नहीं कर सकते इसी प्रकार स्वामी शङ्कराचार्य्य का चाहे अपने समयमें कितना ही विरोध क्यों न किया गया हो पर कोई भी उनकी पवित्रता और ब्रह्मचर्य्य पर दोष नहीं ला सका॥

स्वामी शङ्कराचार्य्य में अपने देश और वेदों की बड़ी भक्ति थी आर्य्यावर्त को मत मतान्तरों से भरा पाकर इस बाल ब्रह्मचारी के चित्त में बड़ा खेद हुआ और अपनी शक्ति के अनुसार उन्होंने देश से इस कलङ्क को दूर करने के निमित्त इस में नये सिरे वेदों की ध्वनि गुंजाने के निमित्त अपने प्रिय प्राणों को इस ब्रह्मयज्ञ में हवन कर दिया जो उन्होंने अपने जीवन में स्वयं एकमात्र ईश्वर का सहारा लेकर रचा था और यह यज्ञ अपना फल दिये बिना नहीं रहा। देश में बौद्ध और जैनमतों के प्रचार से जो नास्तिकता फैल गई थी उसको शङ्कराचार्य्य के बलिदान ने दूर करके उस की जगह एकबार फिर नये सिरे आस्तिकता को स्थिर किया॥

शङ्कराचार्य्य अपने देश की इस दशा को अविद्या का कार्य समझते थे और इसी कारण से उन्हें विद्या के प्रचार के साथ बड़ा प्रेम था। अपने जीवन में उन्होंने अपने शिष्यों को स्वयं पढ़ाया और अन्तिमश्वास तक शिक्षा देते रहे। देश में विद्या के के प्रचार के अर्थ उन्हों ने योग्य स्थानों पर मठ स्थिर किये

और वहां अपने योग्य शिष्यों को शिक्षा और प्रचार के अर्थ छोड़ा।

प्रचरित मत मतान्तरों से आपको पूर्ण परिचय था उनका खंडन आप बड़े ज़ोर शोर के साथ करते थे पर बड़े विनीत-भाव और सहिष्णुता के साथ। विरोधियों के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे जो खाली कटाक्ष हों। जो खण्डन किया जाता उसमें युक्ति और शास्त्रों के प्रमाणों को काम में लाया जाता।

वेदों पर उनका पक्का विश्वास था कि उनके प्रतिमुख दूसरे सारे पुस्तकों और मत मतान्तरों को तुच्छ समझते थे और हृदय से चाहते थे कि उनका प्रचार नये सिरे से सारे जगत् में होजाय उन्हें वे ईश्वर का वाक्य समझते थे और उनमें उनकी परम भक्ति थी।

स्वामी शंकराचार्य्य की कृति।

स्वामी शङ्कराचार्य्य की छोटी सी आयु के प्रचार के काम से उनके जीवन का लेख का काम कुछ न्यून नहीं। उनके प्रचार के वृत्तान्तों से जितना गौरव और विद्या प्रकट होती है उनकी कृति के पढ़ने से वह कहीं बढ़ चढ़कर पाई जाती है। शंकराचार्य्य की कई एक कृतियें विद्यमान हैं और भाषा की दृष्टि से संस्कृत भाषा में उनके लिये उत्तम पदवी है। उनकी कृति की भाषा विशद और ललित होने के कारण से आज तक देश भर के पण्डितों में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती है। ऐसा शुद्ध और ललित लिखने वाले बहुत विरले हुआ करते हैं उनकी संस्कृत देखकर प्रतीत होता है कि शब्दों को ढूंढकर

के जोड़ा हुआ नहीं, मानों संस्कृत का प्रवाह बहा दिया गया है। तिस पर बड़ा संक्षिप्त, ललित और मनोहर संस्कृत है। उन की कृति में से सब से प्रसिद्ध और शङ्कराचार्य्य के नाम को संस्कृत भाषा में जीवित रखने वाले

प्रस्थान त्रय हैं।

जिन में उपनिषद्भाष्य, सूत्र भाष्य और गीता भाष्य सम्मिलित हैं। इन तीनों भाष्यों में उन्होंने ब्रह्मविद्या की व्याख्या की है और बताया है कि इन पुस्तकों का तात्पर्य्य जीव और ब्रह्मकी एकता में है।

उपनिषद्भाष्य।

में शङ्कराचार्य्य ने ब्रह्मविद्या की व्याख्या और विशेष कर निम्नलिखित विषयों पर विचार किया है (१) जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप (२) जीवात्मा की तीन अवस्थाएं (३) तीन शरीर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण (४) जीवात्मा की मृत्यु के समय शरीर से अलग होने की रीति (५) शुक्लगति और कृष्णगति, अर्थात् शरीर से अलग होकर सूर्य्यलोक वा चन्द्रलोक की ओर जीवात्मा का जाना और उसका फिर जन्म लेना वा मुक्त हो जाना (६) ब्रह्मविद्या के साधन (७) छान्दोग्य उपनिषद् में विशेष कर भिन्न २ प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है।

निम्नलिखित दश उपनिषदों पर स्वामी शंकराचार्य्य ने भाष्य किया है और यह सब के सब उपनिषद्भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं (१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९)

छान्दोग्य और १० बृहदारण्यक। अन्तिम उपनिषद् सबसे बड़ा उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण का एक भाग है इसका भाष्य करते हुए शङ्कराचार्य्य ने उसके विषय पर सविस्तर विचार किया है शङ्कराचर्य्य उपनिषदों को वेद मानते थे।

सूत्र भाष्य।

उपनिषदों के विचारणीय विषयों पर इस भाष्य में विचार किया गया है इसके पहिले अध्याय में बताया है कि सारे उपनिषद् ब्रह्म को ही जगत् का कारण बताते हैं। और बड़ी विद्वत्ता के साथ सिद्ध किया है कि अकाश, प्राण, ज्योति और अग्नि आदि सब परमेश्वर के नाम हैं। दूसरे अध्याय में बौद्ध जैन और चारवाक आदि नास्तिक मतों का खंडन है और सांख्य योग आदि आस्तिक मतों का भी इस अंश में खण्डन है जहां तक कि उन में जीव ब्रह्म का भेद और प्रकृति को जगत् का कारण माना है। तीसरे अध्याय में वैराग्य, जीव ब्रह्म की एकता, सगुण निर्गुण उपासना और ज्ञान के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग साधनों का वर्णन है। चौथे अध्याय में जीवन्मुक्ति शरीर से जीव के अलग होने उत्तरायणगति ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मलोक का वर्णन है।

गीता भाष्य।

यह श्रीकृष्णचन्द्रजी की गीता पर एक बहुमूल्य व्याख्या है। इन भाष्यों के स्वामी शङ्कराचार्य्य के रचित होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं और वस्तुतः ये ही भाष्य उनके नाम को जीवित रखने वाले हैं। इन के विना छोटे २ पुस्तक संस्कृत

भाषा में स्वामी शङ्कराचार्य्य के नाम से पाये जाते हैं उन में कई एक तो अवश्य इन्हीं से लिखे हुए पुस्तक हैं पर बहुत से पुस्तक दूसरे लोगों ने लिख कर स्वामी शङ्कराचार्य्य के नाम से प्रसिद्ध किये हैं । इस लिये इस विषय का निर्णय करना कि इन पुस्तकों में से कौन २ से स्वामीजी के अपने रचित हैं और कौन २ से नहीं एक कठिन काम है इसलिये हम उचित नहीं समझते कि उनके नाम से ऐसे पुस्तकों पर कुछ लिखें जिन के स्वामी शङ्कराचार्य्य के लिखे हुए होने में संदेह है ।

परिशिष्ट ।

स्वामी शंकराचार्य के शिष्यों के रचित ये ग्रन्थ हैं—

पादपद्म रचित—आत्मानात्मविवेक । पञ्चपादिका । प्रपञ्चसार ॥

तो (त्रो) टकाचार्य-रचित—काल निर्णय । तोटक व्याख्या । तोटक श्लोक । श्रुतिसार समुद्धरण ॥

हस्ता मलक-कृत—ब्रह्ममहिमा । वेदान्त सिद्धान्तदीपिका । हस्तामलक स्तोत्र । इसने ऋग्वेद पर भाष्य भी किया था ॥

सुरेश्वराचार्य-कृत—नैष्कर्म्य सिद्धि । काशीमोक्ष निर्णय । तैत्तिरीय श्रुतिवार्त्तिक । पञ्चीकरण वार्तिक । बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक । ब्रह्मसिद्धि । ब्रह्मसूत्र भाष्यवार्तिक । भावना विवेक । मानसोल्लास । दक्षिणामूर्ति स्तोत्र वार्तिक । लघु वार्तिक । वार्तिकसार । वार्तिकसार संग्रह ।

स्वामीशंकराचार्य के जीवन चरित्र।

१—बृहच्छंकर विजय—चित्सुखाचार्य कृत।

२—शंकर विजय—आनन्दगिरि कृत।

३—शंकर विजय—शंकरानन्द कृत।

४—शंकर विजय— [illegible] न्दनाथ कृत, इसी को केरलीय शंकर विजय भी कहते हैं॥

५—शंकर विजय—राजचूड़ामणि दीक्षित कृत।

६—शंकर विजय—अनन्तानन्दगिरि कृत। इस को गुरु-विजय और आचार्य विजय भी कहते हैं।

७—शंकरविजय—वल्लीसहायकवि कृत, इसको आचार्य दिग्विजय भी कहते हैं।

८—शंकरविजय—सदानन्द कृत।

९—शंकरविजय—चिद्विलास कृत, इसको शंकर विजय-विलास भी कहते हैं।

१०—शंकरविजय—माधव कृत।

इति शम्॥

॥ ओ३म् ॥

सूचीपत्र

संस्कृत के अनमोल रत्न ।

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद ।

ये भाषानुवाद पं० राजाराम जी प्रोफ़ेसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमेन्ट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं। योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है । इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो ॥

(१) श्री वाल्मीकि रामायण—भाषा टीका समेत । वाल्मीकि कृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है । टीका बड़ी सरल है । इस पर ७००) इनाम मिला है । भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) महाभारत—इस की भी टीका रामायण के तुल्य ही है । दो भागों में छपा है । प्रथम भाग ६।) द्वितीय भाग ५॥।)

(३) भगवद्गीता-पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत। भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध । इस पर ३००) इनाम मिला है । मूल्य २।), गीता हमें क्या सिखलाती है मूल्य ।-)

(४) ११ उपनिषदें—भाषा भाष्य सहित —

१-ईश उपनिषद्	≡)	७—तैत्तिरीय उपनिषद्	॥)
२-केन उपनिषद	≡)	८—ऐतरेय उपनिषद	≡)
३-कठ उपनिषद्	।≡)	९—छान्दोग्य उपनिषद्	२।)
४-प्रश्न उपनिषद	।-)	१०—बृहदारण्यक उपनिषद	२।)
५-६—मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी	।=)	११—श्वेताश्वतर उपनिषद	।-)
		उपनिषदों की भूमिका	।-)

(५) मनुस्मृति—मनुस्मृति पर टीकाएं तो बहुत हुई हैं, पर यह टीका अपने ढंग में सब से बढ़ गई है। क्योंकि एक तो संस्कृत की सारी पुरानी टीकाओं के भिन्न २ अर्थ इस में दे दिये हैं। दूसरा इसका हर एक विषय दूसरी स्मृतियों में जहां २ आया है, सारे पते दे दिये हैं। तिस पर भी मूल्य केवल ३।) है।

(६) निरुक्त—इस पर भी २००) इनाम मिला है ४॥)

७—योगदर्शन १॥)
८—वेदान्त दर्शन ४)
९—वैशेषिक दर्शन १॥)
१०—सांख्य शास्त्र के तीन प्राचीन ग्रन्थ ॥।)
११—नवदर्शन संग्रह १।)
१२ आर्य-दर्शन १॥)
१३—न्याय प्रदीपिका ॥=)
१४—आर्य-जीवन १॥)
१५—दिव्य जीवन १)
१६—आर्य पञ्चमहायज्ञ पद्धति ।-)
१७—स्वाध्याय यज्ञ १)
१८—वेदोपदेश १)
१९—वैदिक स्तुति प्रार्थना ≡)
२०—पारस्कर गृह्यसूत्र १॥=)
२१—बाल व्याकरण इस पर २००) इनाम मिला है ॥)
२२—सफल जीवन ॥)
२३—प्रार्थना पुस्तक -)॥

२४—वात्स्यायन भाष्य सहित न्याय दर्शन भाष्य ४)

वेद और महाभारत के उपदेश -)॥
वेद मनु, और गीता के उपदेश -)॥
वेद और रामायण के उपदेश -)॥
वैदिक आदर्श)॥
अथर्ववेद का निघण्टु ॥।=)
हिन्दी गुरुमुखी -)
सामवेद के क्षुद्र सूत्र ॥)
पञ्जाबी संस्कृत शब्दशास्त्र ।=)

नोट—कार्यालय की इन अपनी पुस्तकों के सिवाय और भी सब प्रकार की पुस्तकें रिआयत से भेजी जाती हैं॥

मिलने का पता—

मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।